ईश्वर और उसकी अनुभूति

पं. श्रीराम शर्मा आचार्य

ईश्वर और उसकी अनुभूति

✪

लेखक
पं० श्रीराम शर्मा आचार्य

✪

प्रकाशक :
युग निर्माण योजना विस्तार ट्रस्ट
गायत्री तपोभूमि, मथुरा
फोन : (०५६५) २५३०१२८, २५३०३९९
मो. ०९९२७०८६२८७, ०९९२७०८६२८९
फैक्स नं०- २५३०२००

पुनरावृत्ति सन् २०११ मूल्य- ३१.०० रुपया

☐

लेखक

पं० श्रीराम शर्मा आचार्य

ISBN
81-89309-19-6

☐

प्रकाशक :

युग निर्माण योजना विस्तार ट्रस्ट

गायत्री तपोभूमि, मथुरा-२८१००३

☐

मुद्रक :

युग निर्माण योजना प्रेस,

गायत्री तपोभूमि, मथुरा-२८१००३

विषय-सूची

१.	मानव-जीवन और ईश्वर विश्वास	५
२.	हम महान् ईश्वर के महान् पुत्र हैं	९
३.	ईश्वर हमारा सच्चा जीवन-सहचर है	१५
४.	ईश्वर है या नहीं?	२०
५.	ईश्वर और उसकी अनुभूति	२५
६.	सर्वशक्तिमान् परमेश्वर और उसका सान्निध्य	२९
७.	परमात्मा की अनन्त अनुकम्पा और उसके दर्शन	३५
८.	हम ईश्वर से विमुख न हों	३९
९.	निर्भयता का वरदान	४१
१०.	न उपेक्षा करें और न विमुख हों	४२
१०.	परमात्मा का दर्शन कैसे मिले?	४३
११.	ईश्वरोपासना के सत्परिणाम	४७
१२.	ईश्वर उपासना से महान् आध्यात्मिक लाभ	५१
१३.	जीवन को भव्य बनाने वाली ब्रह्म-विद्या	५७
१४.	भगवान् आपके अन्दर सोया है, उसे जगाइये	६२
१५.	परमेश्वर के साथ अनन्य एकता का मार्ग	६७
१६.	परमात्म-सत्ता से सम्बद्ध होने का माध्यम	७३
१७.	उपासना आवश्यक है और अनिवार्य भी	७९
१८.	ईश्वर उपासना आवश्यक क्यों?	८५
१९.	उपासना अर्थात् परमात्मा की समीपता	८९
२०.	उपासना का उद्देश्य-आत्मशान्ति	९४
२१.	उपासना के साथ कामनायें न जोड़ें	१००
२२.	उपासना फलवती कैसे हो?	१०५

२३.	उपासना–अन्तःकरण की गहराई से	१०९
२४.	सच्ची उपासना का स्वरूप	११३
२५.	परमात्मा का सान्निध्य और सम्पर्क साधें	११७
२६.	प्रार्थना द्वारा अपने को परमात्मा से मिलाइये	१२२
२७.	उपासना बिना कल्याण नहीं	१२७
२८.	उपासना ही नहीं–साधना भी	१३२
२९.	हमारा समस्त जीवन ही साधनामय बने	१३४
३०.	साधना आवश्यक है और अनिवार्य भी	१४१
३१.	साधना की महानता	१४८
३२.	तपसाधना की आवश्यकता	१५५
३३.	आत्म साधना के कठिन पथ पर	१५९
३४.	ईश्वर प्राप्ति की साधना	१६३
३५.	सारा जीवन ही साधना बने	१६७

ईश्वर और उसकी अनुभूति
मानव जीवन और ईश्वर विश्वास

महाभारत का युद्ध प्रारम्भ होने में कुछ दिन ही शेष थे। कौरव और पाण्डव दोनों पक्ष अपनी-अपनी तैयारियाँ कर रहे थे युद्ध के लिए। अपने-अपने पक्ष के राजाओं को निमंत्रित कर रहे थे। भगवान् श्रीकृष्ण को निमन्त्रित करने के लिए अर्जुन और दुर्योधन एक साथ पहुँचे। भगवान् ने दोनों के समक्ष अपना चुनाव प्रश्न रखा। एक ओर अकेले शस्त्रहीन श्रीकृष्ण और दूसरी ओर श्रीकृष्ण की सारी सशस्त्र सेना-इन दोनों में से जिसे जो चाहिए वह माँग ले। दुर्योधन ने सारी सेना के समक्ष निरस्त्र कृष्ण को अस्वीकार कर दिया; किन्तु अपने पक्ष में अकेले निरस्त्र भगवान् कृष्ण को देखकर अर्जुन मन-ही-मन बड़ा प्रसन्न हुआ। अर्जुन ने भगवान् को अपना सारथी बनाया। भीषण संग्राम हुआ। अन्ततः पांडव जीते और कौरव हार गये। इतिहास साक्षी है कि बिना लड़े भगवान् कृष्ण ने अर्जुन का सारथी मात्र बनकर पाण्डवों को जिता दिया और शक्तिशाली सेना प्राप्त करके भी कौरव को हारना पड़ा। दुर्योधन ने भूल की जो स्वयं भगवान् के समक्ष सेना को ही महत्त्वपूर्ण समझा और सैन्य बल के समक्ष भगवान् को ठुकरा दिया।

किन्तु आज भी हम सब दुर्योधन बने हुए हैं और निरन्तर यही भूल करते जा रहे हैं। संसारी शक्तियों, भौतिक सम्पदाओं के बल पर ही जीवन संग्राम में विजय चाहते हैं, ईश्वर की उपेक्षा करके। हम भी तो भगवान् और उनकी भौतिक स्थूल शक्ति दोनों में से दुर्योधन की तरह स्वयं ईश्वर की उपेक्षा कर रहे हैं और जीवन में संसारी शक्तियों को प्रधानता दे रहे हैं; किन्तु इससे तो कौरवों की तरह असफलता ही मिलेगी।

वस्तुत: जीत उन्हीं की होती है जो भौतिक शक्तियों तक ही सीमित न रह कर परमात्मा को अपने जीवनरथ का सारथी बना लेते हैं। उसे ही जीवन का सम्बल बनाकर मनुष्य इस जीवन-संग्राम में विजय प्राप्त कर लेता है। हम देखते हैं कि ईश्वर को भूलकर संसार का तानाबाना हम बुनते रहते हैं, अपने मन में हवाई किले बनाते हैं, कल्पना की उड़ान से दुनिया का ओर-छोर नापने की योजना बनाते हैं; किन्तु हमें पग-पग पर ठोकरें खानी पड़ती हैं, स्वप्नों का महल एक ही झोंके में धराशायी हो जाता है, कल्पना के पर कट जाते हैं, सब कुछ बिगड़ जाता है, अन्त में पछताना पड़ता है। दुर्योधन, रावण, हिरण्यकशिपु, सिकन्दर आदि बड़ी-बड़ी हस्तियाँ पछताती चली गईं। भगवान् के संसार में रहकर भगवान् को भूलने और केवल शक्तियों को प्रधानता देने से और क्या मिल सकता है? संसार के रणाङ्गण में उतर कर हम इतने अन्धे हो जाते हैं कि इस सारी सृष्टि के मालिक का आशीर्वाद लेना तो दूर उसका स्मरण तक हम नहीं करते और भौतिक स्थूल संसार को ही प्रधानता देकर जूझ पड़ते हैं। ऐसे अहंकारी व्यक्ति चाहे कितनी भी सफलता प्राप्त क्यों न करलें उनकी विजय संदिग्ध ही रहती है।

आज मानव जीवन की जो करुण एवं दयनीय स्थिति है, जो सन्ताप दु:ख, असफलताएँ मिल रही हैं, इन सबका मूल कारण है ईश्वर विश्वास की कमी, ईश्वरीय सत्ता की उपेक्षा करना और एकमात्र भौतिक साँसारिक शक्तियों को ही महत्त्व देना।

ईश्वर विश्वास के लिये श्रद्धा का महत्त्वपूर्ण स्थान है। भौतिक जीवन तथा शारीरिक क्षेत्र में प्रेम की सीमा होती है। जब यही प्रेम आन्तरिक अथवा आत्मिक क्षेत्र में काम करने लगता है, तो उसे श्रद्धा कहते हैं। यह श्रद्धा ही ईश्वर-विश्वास का मूल स्रोत है एवं श्रद्धा के माध्यम से ही उस विराट की अनुभूति सम्भव है। श्रद्धा, समस्त जीवन नैया की पतवार को ईश्वर के हाथों सौंप देती है। जिसकी जीवन डोर प्रभु के हाथों में हो भला उसे क्या भय! भय तो उसी को

होगा जो अपने कमजोर हाथ पाँव अथवा संसार की शक्तियों पर भरोसा करके चलेगा। जो प्रभु का आँचल पकड़ लेता है वह निर्भय हो जाता है, उसके सम्पूर्ण जीवन से प्रभु का प्रकाश भर जाता है। तब उसके जीवन व्यापार का प्रत्येक पहलू प्रभु प्रेरित होता है, उसका चरित्र दिव्य गुणों से सम्पन्न हो जाता है। वह स्वयं परम पिता का युवराज हो जाता है। फिर उसके समक्ष समस्त संसार फीका और निस्तेज, बलहीन क्षुद्र जान पड़ता है; किन्तु यह सब श्रद्धा से ही सम्भव है।

परमात्मा की सत्ता, उसकी कृपा पर अटल-विश्वास रखना ही श्रद्धा है। ज्यों-ज्यों इसका विश्वास होता जाता है त्यों-त्यों प्रभु का विराट् स्वरूप सर्वत्र भासमान होने लगता है। हमारे भीतर बाहर चारों ओर श्रद्धा के माध्यम से ही हमें परमात्मा-का उस ईश्वर का अवलम्बन लेना चाहिये। श्रद्धा से ही उस परमात्व-तत्व पर जो हमारे बाहर भीतर व्याप्त है विश्वास करना मुमुक्षु के लिए आवश्यक है और सम्भव भी है।

स्थूल जगत् का समस्त कार्यव्यापार ईश्वरेच्छा एवं उसके विधान के अनुसार चल रहा है। वैज्ञानिक, दार्शनिक सभी इस तथ्य को एक स्वर से स्वीकार भी करते हैं। कहने के ढङ्ग अलग-अलग हो सकते हैं, फिर भी यह निश्चित ही है कि यह सारा कार्य व्यापार किसी अदृश्य सर्वव्यापक सत्ता द्वारा चल रहा है। हमारा जीवन भी ईश्वरेच्छा का ही रूप है। अतः जीवन में ईश्वर विश्वास के साथ-साथ समस्त कार्य-व्यापार में उसकी इच्छा को ही प्रधानता देनी चाहिये। वह क्या चाहता है इसे समझना और उसकी इच्छानुसार ही जीवनरण में जूझना आवश्यक है। इसी तथ्य का संकेत करते हुए भगवान् कृष्ण ने अर्जुन से कहा था—

"तस्मात् सर्वकालेषु मामनुस्मर युध्यश्च।"

"हे अर्जुन! तू निरन्तर मेरा स्मरण करता हुआ मेरी इच्छानुसार युद्ध कर।" परमात्मा सभी को यही आदेश देता है। ईश्वर का नाम

लेकर उनकी इच्छा को जीवन में परिणित होने देकर जो संसार के रणाङ्गण में उतरते हैं उन्हें अर्जुन की ही तरह निराशा का, असफलता का सामना नहीं करना पड़ता। ईश्वरेच्छा को जीवन संचालन का केन्द्र बनाने वाले की हर साँस से यही आवाज निकलती रहती है "हे ईश्वर तेरी इच्छा पूर्ण हो।" 'ईश्वर तेरी इच्छा पूर्ण हो' जीवन का यही मूलमंत्र है। महापुरुषों के जीवन इसके साक्षी हैं। स्वामी दयानन्द ने अन्तिम बार जहर खाते हुए भी कहा "ईश्वर तेरी इच्छा पूर्ण हो।" महात्मा गाँधी ने गोली खाकर कहा "हे राम तेरी इच्छा पूर्ण हो।" ईसा को क्रूस पर चढ़ाया गया तब उन्होंने भी प्रभु इच्छा को ही पूर्ण होना बताया। जीवन में हर साँस, हर धड़कन में हम प्रभु की इच्छा को ही प्रधान समझें। जीवन को प्रभु के हाथों सौंप दें तो अन्त में भी उसके पावन अङ्क में ही स्थान मिलेगा साथ ही हमारा भौतिक जीवन भी दिव्य एवं महान् बन जायगा। भगवान् कहते हैं—

"मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।"—गीता ९-३४, १८-६५

"मेरा भक्त बन जा सारे कर्म अकर्म मुझे अर्पित करदे, मैं तुझे सर्व सुखों से पार कर दूँगा।"

"मेरा भक्त बन जा सारे कर्म अकर्म मुझे अर्पित करदे, मैं तुझे सर्व दुखों से पार कर दूँगा।"

अहङ्कार का पुतला मनुष्य प्रभु की इच्छा को, उनकी आज्ञा को स्वीकार नहीं करता और अपने ही निर्बल कन्धों पर अपना बोझ उठाये फिरता है। इतना ही नहीं दुनिया का भार उठाने का दम भरता है। यही कारण है कि निराशा, चिन्ताएँ, दु:ख, रोग, असफलताएँ उसे घेरे हुए हैं और रात दिन व्याकुल-सा सिर धुनता हुआ मनुष्य अत्यन्त परेशान-सा दिखाई देता है। अहङ्कार वश प्रभु की इच्छा के विपरीत चलकर कभी सुख-शान्ति मिल सकती है? नहीं कदापि नहीं। हमें अपने हृदय मन्दिर में से अहङ्कार, वासना, राग-द्वेष को निकाल कर रिक्त करना होगा और ईश्वरेच्छा को सहज रूप में काम करने देना होगा तभी जीवन यात्रा सफल हो सकेगी।

ईश्वर के प्रति विश्वास, श्रद्धा, उसकी इच्छा को जो समस्त स्थूल और सूक्ष्म संसार का संचालन कर रही है, सहज रूप में काम करने देना जीवन के मूलमन्त्र हैं। मनुष्य की शक्ति अत्यन्त अल्प है वह अहङ्कार की शक्ति है। बड़े-बड़े कौरव, बाणासुर, रावण, हिरण्यकशिपु, अनेकों असुरों ने ईश्वरीय सत्ता को चुनौती दी थी अपने सांसारिक बल और अहङ्कार बल से; किन्तु अन्त में पछताते गये। साधारण मनुष्य की तो बात ही क्या है। अपने जीवन की बागडोर उनके हाथों देकर निश्चिंत हो जाने वाले ही उनके विराट् रूप का दर्शन कर कृतार्थ हो जाते हैं। हमें सचेत होकर अपना रथ भगवान् के हाथों में देना है। परमपिता के संरक्षण में हमें अपनी विजय यात्रा पर चलने को तैयार हो जाना है। हमारी प्रत्येक साँस और धड़कन में प्रभु का अमर संगीत गूँजता रहे, हमारे हृदय मन्दिर में विराजमान प्रभु हमारे जीवन रथ का संचालन करते रहें और अन्त में उनके पावन अङ्क में ही हमें स्थान मिले ऐसी उनसे प्रार्थना है। वे हीं हमारे बाहर-भीतर एक रस से व्याप्त हो रहे हैं।

हम महान् ईश्वर के महान् पुत्र हैं

पुत्र से पिता के स्वरूप का आभास मिल जाता है। पुत्र पिता का प्रतिनिधि माना गया है। प्रतिनिधित्व का आशय है, उसी रीति-नीति का प्रतिपादन करना जो प्रधान की हो। जो प्रतिनिधि ऐसा नहीं करते, वे विद्रोही माने जाते हैं।

मनुष्य का अस्तित्व उसका अपना मूल अस्तित्व नहीं है। वह किसी एक महानतम अस्तित्व का अंश है, उसका प्रतिनिधि है। वह महानतम अस्तित्व क्या है? परमात्मा! परमात्मा ही वह सर्वोच्च प्रधान हैं, जिसकी इच्छा से मानव-जीवन अस्तित्व में आया है। उसकी ही इच्छा के फलस्वरूप वह पृथ्वी पर उसका प्रतिनिधि बनकर अवतरित हुआ।

मनुष्य में परमात्मा के सारे गुण बीज रूप में वर्तमान हैं। इस बात की साक्षी उसकी वह उन्नति और विकास है, जो अब तक मनुष्य ने किया है और करता जा रहा है।

तथापि एक समान ईश्वर का अंश होने पर भी सारे मनुष्य समान रूप से उन्नति और विकास नहीं कर पाते। कुछ तो उन्नति के उच्चतर सोपान चढ़ते चले जाते हैं और दूसरे यथा-स्थान पड़े कालचक्र में निर्जीव जैसे घूमते रहते हैं। इस अन्तर का प्रमुख कारण यही है कि यथा-स्थान स्थगित रहने वाले व्यक्ति अपने उस अस्तित्व से अनभिज्ञ बने रहते हैं, जिसका सम्बन्ध ईश्वरीय प्रतिनिधित्व से है। वे अपने अज्ञान के कारण न तो यह अनुभव करते हैं और न विश्वास कि वे ईश्वर के पुत्र हैं और संसार में उसके प्रतिनिधि।

जिनको अपनी पैतृक महानता का बोध होता है, उसकी शक्ति सामर्थ्य और गरिमा के प्रति आत्मीयता होती है, वह स्वभावतः उसी के अनुसार अपनी गतिविधि निर्धारित करता है। उसे इस बात का आग्रह रहता है कि कहीं ऐसा न हो कि उसका कोई काम उसकी पैतृक महिमा के ऋणात्मक तत्त्व का काम करे। ऐसा शीलवान् पुत्र पैतृक मर्यादा के अनुसार व्यवहार करता है और उसी के अनुरूप उन्नत होता है।

अपनी पैतृक मर्यादा से अबोध व्यक्ति जीवन की दीन-हीन स्थिति में उठने की प्रेरणा कदाचित् ही पाते हैं। साधारण जीवों की तरह सुख-दुःख का भोग भोगते और मर कर चले जाते हैं। अपने इस अज्ञान के कारण वे उस महनीय स्थिति से वंचित रह जाते हैं, ईश्वर के पुत्र होने के कारण जिसके वे सहज अधिकारी होते हैं।

ईश्वर का पुत्र और प्रतिनिधि होने के नाते हर मनुष्य सत्-चित् और आनन्द का सहज अधिकारी है। अपने इस अधिकार को प्राप्त करने के लिए, उसे यह विश्वास जगाना ही होगा कि वह ईश्वर का पुत्र है जिसकी शक्ति अपार है। जो सर्वशक्तिमान् और निखिल ब्रह्माण्डों का स्वामी है, जिसके संकेत से सृष्टि की रचना, उसका पालन और प्रलय होता है। जो सार्वकालिक और सर्वदेशीय है। जो अणु-अणु में आदि, मध्य और अन्त रूप में ओत-प्रोत है। हमारा जन्म और जीवन उसके ही अधीन उसकी सत्ता का ही एक अंश है। हमारे कर्म और वैचारिक क्रियाओं में उसकी प्रेरणा और चेतना प्रतिबिम्बित होती है।

इस दिव्य विश्वास के स्थिर होते ही मनुष्य में आत्मगौरव की स्फुरणा होगी और वह अपने को ईश्वर का उचित प्रतिनिधि प्रकट करने का प्रयत्न करने लगेगा। प्रतिनिधित्व का प्रकटन गुणों के सिवाय और किसी उपाय से नहीं हो सकता। गुणों का विकास होते ही मनुष्य का अस्तित्व विस्तृत होगा और दरिद्रता का कलुष हटने और हृदय में सुख-शान्ति और सन्तोष की सम्पन्नता का समावेश होने लगेगा। जीवन धन्य बन जायेगा।

यदि आप में दैन्य-दरिद्र का अंश शेष है, आप सत्-चित् और आनन्द के अपने अधिकार से वंचित है, तो निश्चय ही आप अज्ञान के कारण अपनी पैतृक गरिमा को भूले हुए हैं। अपने को एक सामान्य प्राणी समझकर जी रहे हैं। विश्वास करिये आप सामान्य प्राणी मात्र नहीं हैं। आप ईश्वर के पुत्र और संसार में उसके प्रतिनिधि हैं। सोचिये, समझिये, मानिये और कहिये कि आप सर्वशक्तिमान् ईश्वर के पुत्र हैं। यह विश्वास, यह स्वीकृति आप में वे सारे गुण और सारी शक्तियाँ जगा देगी, जो ईश्वर में हैं और जो अंश रूप में आपके भीतर सोई पड़ी हैं।

जिस प्रकार किसी बनस्पति की विशेषताएँ उसका गुण-दोष और खाद, उसकी जड़, तने, शाखा, छाल, माँस यहाँ तक फूलफल और पत्ती आदि प्रत्येक अंश में ओत-प्रोत होते हैं, उसी प्रकार निश्चय ही ईश्वर के सारे गुण, सारी विशेषताएँ आप में हैं, उसका अंश-उसका पुत्र और उसका प्रतिनिधि होने के नाते ओत-प्रोत हैं। उनमें विश्वास करिये, उन्हें जगाइये और अपनी प्रकृत पदवी के स्वामी बन जाइये।

उत्तराधिकार का बोध होते ही मनुष्य को अपनी पैतृक सम्पत्ति से आत्मीयता हो जाती है। वह उन्हें अपनी समझने लगता है। अपने में ईश्वरतत्व का बोध होते ही आपको सृष्टि का विस्तार, सूर्य का प्रकाश, चन्द्रमा का सौन्दर्य और नक्षत्रों की ज्योति अपनी लगेगी। वायु की गति, जल का रस और पृथ्वी की गन्ध आपको

अपनी सम्पत्ति लगेगी। आपको अनुभव होगा कि यह सारी सृष्टि आप में और आप उसमें रमे हैं। इस महान् और महनीय स्थिति में आते ही आप अपने अधिकार सत्-चित्-आनन्द के अधिकारी बन जायेंगे।

अधिकार के साथ कर्त्तव्य का योग स्वाभाविक है। जहाँ अधिकार है वहाँ कर्त्तव्य भी है। जिस प्रकार आप ईश्वरीय अधिकार के पात्र हैं, उसी प्रकार ईश्वरीय कर्त्तव्य का दायित्व भी आपके कन्धों पर है। अधिकार और कर्त्तव्यों के क्रम में कर्त्तव्य का स्थान पहले है। कर्त्तव्य के आधार पर ही अधिकार की प्राप्ति होती है और उसकी चरितार्थता भी कर्त्तव्य पर निर्भर है। केवल यह बौद्धिक विश्वास कि हम ईश्वर के पुत्र हैं, उसके अंश और प्रतिनिधि हैं—ईश्वरीय अधिकार का स्वामी न बना देगा, उसके लिये निश्चय ही ईश्वरीय कर्त्तव्य का पालन करते हुए अपने विश्वास की वास्तविकता प्रमाणित करनी ही होगी। अस्तु अधिकारों की भाँति अपने उस ईश्वरीय कर्त्तव्य का बोध कर लेना भी आवश्यक है। बोध होने पर ही उसके पालन की सुविधा हो सकेगी।

ईश्वर ने सृष्टि रचना करने तक ही अपने कर्त्तव्य को सीमित नहीं रक्खा। उसने अपनी इस सृष्टि का पालन भी अपने कर्त्तव्यों में सम्मिलित किया हुआ है। इसी कर्त्तव्य की पूर्ति के लिये उसने विविध प्रकार की वनस्पतियाँ, विविध प्रकार के अन्न, वायु, जल, और अग्नि आदि साधन उत्पन्न किए। साथ ही जीवों को जीवन रक्षा और उसके साथ आनन्द अनुभूति की चेतना भी अनुग्रह की है। उसकी इस कृपा के आधार पर ही जीव-मात्र संसार में आनन्दपूर्वक जी रहे हैं।

ईश्वर के इस कर्त्तव्य के अनुसार उसके प्रतिनिधि मनुष्य पर भी यह कर्त्तव्य आता है कि वह सृष्टि पालन और उसके संचालन में अपने परमप्रभु-अपने परमपिता के साथ योग करे। इस योगदान करने की विधि, इसके सिवाय क्या हो सकती है कि वह ऐसे काम

करे जिनसे संसार की प्रगति हो और उसमें सुख-शांति का समावेश हो। यह मन्तव्य तभी पूरा हो सकता है, जब मनुष्य स्वयं अपने को उदात्त और आदर्श-चरित्र वाला बनाये। वह मानवीय संयम का पालन और ईश्वरीय नियमों का निर्वाह करे। यह नियम और संयम उसके दिये धर्म में पूरी तरह वर्णित है। धर्म का पालन करते रहने से ईश्वरीय कर्त्तव्य का पालन होता चलेगा।

केवल अपने सुख, अपने मंगल और अपने कल्याण में व्यस्त, उसका ही ध्यान रखने वाले लोग ईश्वरीय कर्त्तव्य से विमुख रहते हैं। अपना मंगल और अपना कल्याण भी वांछनीय है; लेकिन सबके साथ मिलकर, एकाकी नहीं अपने हित तक बँधे रहने वाले बहुधा स्वार्थी हो जाते हैं। स्वार्थ और ईश्वरीय कर्त्तव्य में विरोध है। जो स्वार्थी होगा, वह कर्त्तव्य विमुख ही चलता रहेगा। ईश्वर ने सृष्टि उत्पन्न की, एक से एक बढ़कर आनन्ददायक पदार्थों का निर्माण किया। वह निखिल ब्राह्माण्डों के प्रत्येक अणु का स्वामी है। पर क्या यह उनका उपभोग स्वयं करता है? नहीं नहीं वह उनका उपयोग स्वयं नहीं करता है। उसने सारी की सारी सम्पदाएँ और साधन अपने बच्चों के लिये ही सुरक्षित कर दिए हैं। वह अपने आप में महान् त्यागी और परोपकारी है।

इसी प्रकार हम मनुष्यों का भी कर्त्तव्य है कि हम परोपकारी और परमार्थी बनें। हमारे पास जो भी बल, बुद्धि, विद्या, धन-सम्पत्ति आदि उस प्रभु के दिए हुए पदार्थ हैं, उनका एक अंश परोपकार और परमार्थ में लगायें। ऐसा कभी न सोचें कि यह सब तो मेरा है, मैं ही इसका उपभोग करूँगा। गरीबों, असहायों और आवश्यकता-ग्रस्तों की सहायता करना, दु:खी और अपाहिजों की सेवा करना ईश्वरीय कर्त्तव्य है, जो पूरा करना ही चाहिये। ईश्वर अपने विरचित जीव-मात्र से प्रेम करता है। उसके पुत्र उसके प्रतिनिधि मनुष्य का भी कर्त्तव्य है कि वह सृष्टि के सारे जीवों से प्रेम करे।

ईश्वरीय कर्त्तव्य के पालन की प्रेरणा, सामर्थ्य और क्षमता लाने के लिए मनुष्य को चाहिये कि वह संसार की नश्वर और भ्रामक वासनाओं से दूर रहे। उनसे सुरक्षित रहकर अपनी शक्ति और स्वरूप को पहचानें। निकृष्ट भोगवासनायें पाशविक प्रवृत्ति की द्योतक है, ईश्वरीय कर्त्तव्य की नहीं। ईश्वरीय कर्त्तव्य का द्योतक तो आत्म-संयम, आत्म-विकास और आत्म-विस्तार से ही होता है। यदि हमारे हृदयों में यह धारणा दृढ़ हो जाये कि हम उस परम पवित्र, महान् और सर्वोपरि सत्ताधर ईश्वर के पुत्र और संसार में उसके प्रतिनिधि हैं, तो संसार की निकृष्ट वासनाओं और तुच्छ भोगों से विरक्त हो जाना आसान हो जाये। जब तक अपने उच्च-स्वरूप का विश्वास नहीं होता मनुष्य निम्नता की ओर झुकता रहता है।

कितना ही शक्तिशाली और कितना ही उच्चपद वाला क्यों न हो; किन्तु मनुष्य अपने आत्म-स्वरूप को तब तक नहीं पहचान पाता, जब तक कि वह विषय-वासनाओं के अन्धकार से निकल कर अपने स्वरूप का दर्शन आत्मा के प्रकाश में नहीं करता। मनुष्य का कर्त्तव्य है कि वह वासना से निकलकर अध्यात्म के प्रकाश में आये और देखे, विचार करे व उसके फलस्वरूप भी कि वह कितना विशाल, कितना महान् और कितना प्रचुर है। उसका स्वरूप ठीक वैसा ही है, जैसा कि उसके परमपिता परमात्मा का। इस प्रकार की ईश्वरीय अनुभूति होते ही मनुष्य अपने को सर्वव्यापक, सर्वशक्तिमान्, सर्वोपकारी और सर्व-सम्पन्न पायेगा। उसकी सारी क्षुद्रतायें, सारी दीनतायें और सारी निकृष्टतायें आपसे-आप स्खलित हो जायेंगी और वह अपने को सच्चिनानन्द स्थिति में पाकर शुद्ध और बुद्ध बन जाएगा।

मनुष्य का वास्तविक स्वरूप सच्चिदानन्द ही है। अपनी सांसारिक निकृष्टताओं के कारण ही वह इस स्वरूप को भूले हैं। अपने में आत्म-श्रद्धा और आस्था का विकास करिये। मिथ्या से निकलकर सत्य में आइये। जीवत्व से ईश्वरत्व की ओर बढ़िए।

ईश्वर का पुत्र उसका प्रतिनिधि होने में विश्वास करिये। ईश्वरीय कर्त्तव्यों को पालन करने के लिए धर्म को धारण करिये। उपकारी और परमार्थी बनकर सत्य, सेवा, त्याग और आत्मीयता के भाव जगाइये। निश्चय ही आप अपना वह अधिकार और स्वत्त्व पा लेंगे जो ईश्वर में सन्निहित हैं और जिसकी सत्ता है— सत्+चित्+आनन्द=सच्चिदानन्द।

ईश्वर हमारा सच्चा जीवन सहचर है

इस संसार में पग-पग पर कठिनाइयों और संकटों का सामना मनुष्य को ही करना पड़ता है। संसार संकटों का आलय कहा गया है। बहुत कुछ साधन होने पर भी आपत्तियाँ आ जाती हैं। उनसे छुटकारे का कोई मार्ग नहीं दीखता। मनुष्य बहुत कुछ हाथ-पैर मारता है लेकिन संकटों से निस्तार नहीं हो पाता।

ऐसी भयप्रद परिस्थितियाँ कभी-न-कभी प्रायः सभी मनुष्यों के सामने आती रहती हैं। ऐसा लगता है जैसे उसका सारा बल, सारे साधन समाप्त हो गए हैं। इस अन्धकार में कोई साथ देने वाला नहीं है, जीवन भारी हो गया है। पैर लड़खड़ाने लग गये हैं। चारों ओर अन्धेरा ही छाया हुआ है। इस प्रकार वह निराशा और भय से घिर कर असहाय हो जाता है।

लेकिन फिर धीरे-धीरे सारा ज्वार शांत होने लगता है। सभी ओर समाधान दीखने लगता है। वही साधन जिनकी शक्ति में अविश्वास होने लगा था उसी अपने बल में, जिसमें अनास्था हो गई थी, उसी जीवन में, जिसमें केवल अन्धेरा ही अन्धेरा दीख रहा था, विश्वास, श्रद्धा और प्रकाश आता दिखलाई देने लगता है। आपत्तियों और संकट के बादल छटने लगते हैं और निराश मनुष्य एक बार फिर अपने ही पैरों पर खड़ा हो जाता है। यह सब चमत्कार क्या है?

यह चमत्कार वह ईश्वरीय कृपा है जिसका उदय अपने भीतर से ही होता है। यह मनुष्य के आस्तिक भाव का लाभ है, उसी का प्रसाद है। यह लाभ उसे नहीं मिल पाता जो नास्तिक होता है,

जिसके हृदय में उस सर्वशक्तिमान् के प्रति विश्वास नहीं होता। नास्तिक व्यक्ति को ऐसा अप्रत्याशित सम्बन्ध प्राप्त नहीं होता। वह तो अपने साधनों, अपने बल और अपनी शक्ति के थकते ही पराजित हो जाता है और तब संकट और आपत्तियाँ उस व्यक्ति को पूरी तरह नष्ट कर देती हैं। ईश्वर उन्हीं पर करुणा करता है, जो उसके विश्वासी होते हैं, आस्तिक भाव से ओत-प्रोत होते हैं।

ईश्वर की यह महती कृपा ही है कि वह अपने विश्वासी की निरुपाय स्थिति में सहायता करता है, वह किसी का बन्धक नहीं होता, किसी का उस पर कोई इजारा नहीं होता। यदि वह सहायता न करे तो इसका कोई उलाहना नहीं; लेकिन वह अपने उस जन की सहायता बिना माँगे ही करता रहता है; क्योंकि वह करुणा सागर है, दया का आगार है। परमात्मा की इस कृपा के प्रति हम सबको कृतज्ञ ही रहना चाहिए।

अनेक लोग जरा-सा संकट आते ही बुरी तरह घबरा जाते हैं। हाय-हाय करने लगते हैं उसे ईश्वर का प्रकोप मान कर भला-बुरा कहने लगते हैं। निराश और हतोत्साहित होकर ईश्वर के प्रति अनास्थावान् होने लगते हैं। यह ठीक नहीं। आपत्तियाँ संसार में सहज सम्भाव्य हैं। किसी समय भी आ सकती हैं; किन्तु उनसे घबराना नहीं चाहिए। उन्हें ईश्वर का अपने बच्चों के साथ एक खेल समझना चाहिए। जैसे कोई कागज का भयावह चेहरा लगाकर कभी-कभी बच्चों को डराने का विनोद किया करता है, उसी प्रकार ईश्वर भी संकट की स्थिति लाकर अपने बच्चों के साथ खेल किया करता है। उसका आशय यही होता है कि बच्चे भयावह स्थितियों के अभ्यस्त हो जाएँ और डरने की उनकी आदत छूट जाये। वे संसार में हर संकट का सामना करने के योग्य बन जायें। आपत्तियों को ईश्वर का खिलवाड़ समझ कर डरना नहीं चाहिए। उसमें उस खिलाड़ी का साथ देकर खेलते ही रहना चाहिए।

आपत्तियाँ उन्हीं के लिये भय का कारण बनती हैं, जो ईश्वर विश्वासी नहीं होते। उनमें ईश्वर के मङ्गल मन्तव्य का आभास नहीं देखते। अन्यथा संसार की किसी भी परिस्थिति से डरने का कोई कारण नहीं। जिसे ईश्वर की कृपा में विश्वास है, उसकी सर्वशक्तिमत्ता में अखण्ड आस्था है, जो उसे अपना स्वामी, सखा और माता-पिता समझता है, उसे किसी बात से डरने का क्या अर्थ? डरना तो उसे चाहिये जिसने उस सर्वशक्तिमान् का साथ छोड़ दिया है।

जो उसके आदेशों और निर्देशों का उल्लंघन करने का अपराध करता है, जो ईश्वर के विरोध से नहीं डरता है, जो उसकी इच्छा का अनुसरण करने में आनाकानी करता है, डर तो उसके लिये है। जो उसकी अवज्ञा नही करता, आज्ञा में चलता है अपना विश्वास सुरक्षित रखता है, उसको संसार में न तो किसी से भय लगता है और न वह किसी परिस्थिति से विचलित होता है। अपने विश्वासी को ईश्वर बिना मांगे ही साहस, सम्बल और शक्ति देता रहता है। यह उसकी महती कृपा है। इसके प्रति हम सबको आभारी रहना चाहिये।

जीवन एक लम्बी यात्रा के समान है। सर्वथा एकाकी चलकर इसे आसानी से पूरा कर सकना सरल नहीं है। जब किसी यात्रा में कोई मनचाहा साथी मिल जाता है, तो वह बड़ी आसानी से कट जाती है। रास्ता लम्बा और नीरस नहीं लगता। लेकिन साथी सच्चा, सहयोगी और योग्य ही होना चाहिए। अन्यथा वह यात्रा को और भी संकटपूर्ण बना देगा; किन्तु संसार में ऐसे मनचाहे साथी मिलते कब हैं।

संसार में स्वार्थी, विश्वासघाती और आपत्ति के समय साथ छोड़ जाने वाले ही अधिक पाये जाते हैं। जीवन यात्रा के लिए सबसे योग्य एवं उपयुक्त साथी ईश्वर के सिवाय और कौन हो सकता है? वही एक ऐसा मित्र, सखा, स्वजन, सहायक और गुरु होता है, जो पूरे रास्ते साथ रहे, भूलने पर रास्ता दिखलाये, थकने पर सहारा दे और आपत्ति के समय हाथ पकड़ कर बाहर निकाल लाए। एक

ईश्वर को छोड़कर, एक ऐसा साथी कौन हो सकता है, जो जीवन भर साथ दे सके, पग-पग पर चेतावनी और सहारा दे सके; किन्तु अपने इस उपकार के बदले में न तो कुछ ले और न माँगे। ऐसे निःस्वार्थ एवं हित-चिन्तक साथी, सखा और सहचर के उपकार यदि भुला दिए जाते हैं, तो इससे बढ़कर कृतघ्नता और क्या हो सकती है?

जिसने ईश्वर से मित्रता कर ली है। उसे अपना साथी बना लिया है, उसके लिये यह संसार बैकुण्ठ की तरह आनन्द का आगार बन जाता है। जिसकी यह सारी दुनिया है, जो संसार का स्वामी है, उससे सम्पर्क कर लेने पर, हाथ पकड़ लेने पर, फिर ऐसी कौन-सी सम्पदा, ऐसा कौन-सा सुख शेष रह सकता है, जिसमें भाग न मिले। जो स्वामी का सखा है वह उसके ऐश्वर्यों का भी साथी होता है।

ईश्वर के अनन्त उपकारों को कोई कृतघ्न नास्तिक ही भुला सकता है, श्रद्धालु आस्तिक नहीं। उस अहेतुक उपकार करने वाले के प्रति हमें सदैव विश्वासी एवं आस्थावान् ही रहना चाहिये। जब वह जीव को जन्म देने को सोचता है, तब उसके लिये सारी सुविधाएँ पहले से संचय कर देता है, जिससे जन्म लेने के बाद उसके प्यारे जीवों को कोई कष्ट न हो। उसकी मनोनीत माता को दो स्तन दे देता है। जन्म देते ही उनमें नित्यप्रति ताजा, स्वादिष्ट और स्वास्थ्यदायक दूध पैदा करता रहता है। माता के हृदय में वात्सल्य और स्नेह उपजा कर अबोध जीव की सुरक्षा, सेवा और देखभाल करने की प्रेरणा देता रहता है। यदि वह ऐसा न करे तो संसार में जीव का जीवन एक दिन भी नहीं चल पाएँ।

इतना ही क्यों? आगे चलकर भी वह जीवों पर अनन्त उपकार करता रहता है। उसे क्रमिक वृद्धि देता है उसका विकास करता है, बल, बुद्धि और विवेक की कृपा करता है। यदि वह ऐसा न करे, तो जीव भी जड़ की तरह अगतिशील ही बना रहे। न वह संसार में किन्हीं कर्त्तव्यों को कर पाए और न उस (संसार) का

आनन्द उठा पाये। ऐसे चिर-कृपालु ईश्वर के उपकारों को किस प्रकार भुलाया जा सकता है?

इस संसार में क्या नहीं है? सुख, सौभाग्य, आनन्द-मङ्गल सभी तो इस संसार में भरा पड़ा है; किन्तु यह मिलता उन्हें ही है, जो इसके स्वामी परमात्मा के अनुकूल रहते हैं। उसके प्रतिकूल चलने वालों को संसार में दुःख और आपत्तियों के सिवाय और कुछ नहीं मिल पाता। जो इस जगत् के स्वामी को अपना माता-पिता मानेगा, उसकी आज्ञा में चलेगा, उसे हर प्रकार से प्रसन्न रखने का प्रयत्न करेगा, वही उत्तराधिकारी बनेगा और संसार का वैभव पाएगा। संसार का सारा वैभव हमारे पिता का है—जब यह विश्वास हृदय में जम जाएगा तो पुत्र भाव रखने वाला आस्तिक उस अतुल वैभव को अपना अनुभव करने लगेगा। उसे गरीबी, अभाव, दरिद्रता अथवा दुःख का अनुभव ही न होगा। अब सांसारिक राजा, रईसों के लड़के अपने आपको सम्पन्न और संतुष्ट अनुभव करते हैं और पिता के बल पर संसार में निर्भय होकर विचरते हैं, तब भला उस सर्वशक्तिमान् को अपना पिता मानने वाला क्यों तो किसी से डरेगा और क्यों अपने को विपन्न मानकर दुःखी होगा?

ईश्वर मनुष्य के भाव के अनुरूप ही अपना भी भाव बनाता है। जो उसमें पिता का भाव रखता है, वह बदले में उसकी ओर से पुत्र का भाव पाता है। अब ऐसा कौन-सा पिता होगा जो अपने पुत्र को अपनी सम्पदाओं से वंचित रक्खेगा अथवा उसे विपत्ति में पड़ा रहने देगा? वह तो उसका हर प्रकार से लालन-पालन करेगा और हर प्रकार से आपत्तियों से बचाएगा। ऐसे परम दयालु पिता का उपकार न मानना बहुत बड़ा पाप है।

संसार की इस लम्बी जीवन-यात्रा को एकाकी पूरा करने के लिए चल पड़ना निरापद नहीं है। इसमें आपत्तियाँ आएँगी, संकटों का सामना करना होगा। निराशा और निरुत्साह से टक्कर लेनी ही होगी। इन सब बाधाओं और दुःखदायी परिस्थितियों से लड़ने के

लिये एक विश्वस्त साथी का होना बहुत आवश्यक है। वह साथी ईश्वर से अच्छा कोई हो ही नहीं सकता। उसे कहीं से लाने-बुलाने की आवश्यकता नहीं होती है। वह तो हर समय, हर स्थान पर विद्यमान् है। एक अणु भी उससे रहित नहीं है। वह हमारे भीतर भी बैठा हुआ है; किन्तु हम अपने अहंकार के कारण उसे जान नहीं पाते। उसी प्रकार जैसे किसी के घर में बड़ा भारी खजाना छिपा पड़ा हो और वह उसे अज्ञानवश न जान सके। जब किसी को अपनी सम्पत्ति का पता हो जाता है, तो वह उसे खर्च भले ही न करे तब भी उसे उसके बल पर एक सम्पन्नता, एक विश्वास और एक बल अनुभव होता रहता है। जो अन्तरस्थ ईश्वर का विश्वास पा लेता है, समझ लेता है कि वह सर्वशक्तिमान् हर समय उसके हृदय में विराजमान् है, उसके साथ रहता है, उसे एक बड़ा आनन्ददायक आत्म-विश्वास बना रहता है। फिर उसे न किसी से भय लगता है और न वह किसी प्रकार की कमी अनुभव करता है। वह स्वयं ही अपने उस विश्वास के बल पर हर परिस्थिति से टक्कर ले लेता है, प्रायः रो, कलप कर ईश्वर को पुकारने की भी आवश्यकता नहीं रहती।

ईश्वर हमारा महान् उपकारी पिता है वह हमारा स्वामी और सखा भी है। हमे उसके प्रति सदा आस्थावान् रहना चाहिये और आभारपूर्वक उसके उपकारों को याद करते हुए उसके प्रति विनम्र एवं श्रद्धालु बना रहना चाहिए! इसमें हमारा न केवल सुख ही निहित है बल्कि लोक-परलोक दोनों का कल्याण भी।

ईश्वर है या नहीं?

कई व्यक्ति ईश्वर के अस्तित्व से इन्कार करते हैं और कहते हैं—इस सृष्टि को बनाने एवं चलाने वाली कोई चेतन सत्ता नहीं है। प्रकृति के परमाणु अपने आप अपना काम करते हैं और उसी से जीवों का जन्म-मरण होता रहता है। वे आत्मा की सत्ता को भी नहीं मानते और कहते हैं कि पेड़-पौधों की तरह मनुष्य भी एक

बोलने वाला पौधा मात्र है। वह रज—वीर्य के संयोग से जन्मता और रोग एवं बुढ़ापे की क्रिया से मर जाता है।

यह नास्तिकवादी विचारधारा दिन-दिन अधिक तेजी से बढ़ रही है। विज्ञानवेत्ताओं को अपनी प्रयोगशालाओं में ईश्वर के अस्तित्व का प्रत्यक्ष प्रमाण किन्हीं यन्त्रों दुर्बीनों या खुदवीनों में नहीं मिल सका है। इसलिए वे यही कहते हैं कि वैज्ञानिक प्रमाणों के अभाव में हम ईश्वर के अस्तित्व का समर्थन नहीं कर सके। विज्ञान की वर्तमान मान्यताओं को ही सब कुछ मानने वाले लोगों को इससे और भी अधिक प्रोत्साहन मिला है।

ईश्वर की मान्यता से नीति धर्म और सदाचार के बन्धनों में रहने के लिए मनुष्य को विवश होना पड़ता। उच्छृङ्खलतावादी ईश्वर की मान्यता रखने पर भी धर्म-कर्म के बन्धनों को तोड़ते रहते थे। अब उन्हें कम्युनिज्म और विज्ञान का समर्थन मिल जाने से और भी अधिक छूट मिलती है। इस प्रकार उच्छृङ्खलता और अनैतिकता का मार्ग और भी अधिक प्रशस्त हो जाता है। यह मान्यताएँ यदि इसी प्रकार बढ़ती और पनपती रहीं तो नैतिकता, धर्म और सदाचार के लिए एक विश्व-व्यापी सङ्कट खड़ा होने का खतरा उत्पन्न हो जाएगा। इसलिए यह आवश्यक है कि अनीश्वरवादी के तर्कों का परीक्षण किया जाए और यह देखा जाए कि उनके कथन में कुछ सार भी है या नहीं?

अनीश्वरवादियों का कथन है कि-प्रकृति के जड़ परमाणु अपने आप अपनी धुरी पर घूमते हैं, बदलते और हलचल करते हैं, उसी से सृष्टी का क्रम चलता है तथा प्राणियों की उत्पत्ति होती है। ईश्वर की इसमें कुछ भी आवश्यकता नहीं है।

इस कथन पर विचार करते हुए हमें देखना होगा कि क्या चेतना की प्रेरणा बिना जड़ पदार्थों में एक क्रमबद्ध एवं सुव्यवस्थित गतिविधि निरन्तर चलते रहना सम्भव हो सकता है? देखते हैं कि कोई रेल, मोटर, जहाज, मशीन, अस्त्र आदि कितना ही महत्त्वपूर्ण

एवं शक्तिशाली क्यों न हो, उसे चलाने के लिए चालक की बुद्धि ही काम करती है। राकेट से लेकर उपग्रह तक स्वाचालित यन्त्र तभी अपनी सक्रियता जारी रख पाते हैं, जब रेडियो सक्रियता के माध्यम से मनुष्य उन्हें किसी दिशा विशेष में चलाते हैं। चालक के अभाव में अपनी इच्छा और शक्ति से यदि वस्तुएँ अपने आप ही चलने और काम करने लगें तो फिर उन्हें जड़ ही क्यों कहा जाए?

मशीन से सम्बन्धित जितनी भी वस्तुएँ हैं वे सभी चालक की अपेक्षा रखती हैं। सञ्चालन करने एवं प्रयोग करने वाला न हो तो वे महत्त्वपूर्ण होते हुए भी किसी के कुछ काम नहीं आतीं। इससे प्रकट होता है कि जड़ पदार्थ किसी सञ्चालक की प्रेरणा से ही सक्रियता धारण करते हैं। विशाल सृष्टि के कार्यक्रम में ज़ो सक्रियता, नियमितता और व्यवस्था दीख पड़ती है, उसके पीछे भी चेतन सत्ता का हाथ होना आवश्यक है। इतना बड़ा सृष्टि-साम्राज्य अपने आप इतने विवेकपूर्ण ढङ्ग से नहीं चल सकता। हवा को चलाने वाली, बादलों को बरसाने वाली, नदियों को बहाने वाली, ॠतुओं को बदलने वाली, पौधों को उगाने और सुखाने वाली, कोई शक्ति मौजूद हैं—यह मानना पड़ेगा। इसे प्रकृति कहें या परमेश्वर इस नाम-भेद से कुछ बनता बिगड़ता नहीं।

पदार्थों में क्षमता मौजूद भले ही हो, पर उसे गतिशील बनाने वाली एक प्रेरक शक्ति का भी पृथक् से अस्तित्व मौजूद है। अणु अपनी धुरी पर अपने आप नहीं घूमते उन्हें घुमाने वाली भी कोई प्रेरक शक्ति होनी ही चाहिए। इतने नियमबद्ध, इतने विशाल विश्व ब्रह्माण्ड का ठीक प्रकार संचालन होते रहना किसी चैतन्य-सत्ता के द्वारा ही सम्भव है। बुद्धिहीन जड़ पदार्थ अपने आप अपना कार्य नियमपूर्वक करते रहेंगे, यह कैसे सम्भव हो सकता है? सूर्य, चन्द्रमा ग्रह-नक्षत्र अपनी अपनी धुरी तथा कक्षा में निर्धारित गति से घूमते हैं। यदि इसमें तनिक भी अन्तर आ जाए तो एक ग्रह दूसरे से टकरा कर टूटने लगे और इसकी प्रतिक्रिया से अन्य ग्रह नक्षत्रों की

भी गति-व्यवस्था बिगड़ जाए। पर होता ऐसा नहीं; क्योंकि इन सबका सञ्चालन एक सावधान सत्ता द्वारा हो रहा है।

जो भी वस्तुएँ हमारे उपयोग में आती वे वह किसी न किसी के द्वारा बनाई हुई होती हैं। रोटी, कपड़ा, दवा, मकान, चारपाई, बर्तन, लालटेन, पुस्तक, घड़ी आदि हमारे उपयोग की सभी चीजें किसी के द्वारा बनाई गई हैं। इनके मूल पदार्थ—अन्न, धातु, कपास आदि को तथा उनके भी मूल पञ्चतत्वों को बनाने वाला भी कोई होना ही चाहिये। इसी निर्मात्री और सञ्चालन शक्ति का नाम ईश्वर है।

विश्व का सञ्चालन और नियन्त्रण करने वाली कोई विचारशील सत्ता है उसका अनुमान उसकी कृतियों को ध्यानपूर्वक देखने से सहज ही लग जाता है। जिस प्राणी को जिस परिस्थिति में उत्पन्न किया है, उसके अनुकूल ही उसे साधन भी दिए हैं। मांसाहारी जीवों के दाँत और नाखून ऐसे बनाये हैं कि शिकार को पकड़ और फाड़कर खा सकें। इसी प्रकार शाकाहारी जीवों को उसी व्यवस्था के अनुरूप खाने और पचाने के यन्त्र मिले हैं। ठण्डे बर्फीले प्रदेशों में रहने वाले जानवरों के शरीर पर बड़े-बड़े बाल और गर्म भूमि पर रहने वालों के शरीर उष्णता सहन करने की क्षमता-सम्पन्न होते हैं।

प्राणियों के शरीर में खाद्य पदार्थों को रक्त माँस के रूप में परिणत करते रहने वाली पाचन प्रणाली ऐसी आश्चर्यजनक है कि उसकी रासायनिक क्षमता देखते ही बनती है। रोगों की निरोधक शक्ति स्वयं ही बीमारियों से लड़ती और रोग-मुक्ति का साधन बनती है। चिकित्सकों के उपचारों द्वारा उसे थोड़ी सहायता ही मिलती है। इस प्रक्रिया की आश्चर्यजनक शक्ति को देखते हुए वैज्ञानिकों को दाँतों तले उँगली दबाकर रह जाना पड़ता है। शरीर में लगा हुआ एक-एक कल पुर्जा इतना संवेदनशील और अद्भुत कारीगरी से भरा हुआ है कि उसे अपने आप बना हुआ, अपने आप काम करने वाला नहीं माना जा सकता।

प्राणियों की उत्पत्ति एवं विनाश की प्रक्रिया में सन्तुलन रहना एक ऐसा तथ्य है, जिसे किसी विचारवान् सत्ता का ही कार्य कहा जा सकता है। विभिन्न प्राणी अपनी सन्तानोत्पत्ति बड़ी तेजी से करते हैं। मनुष्य चार छः बच्चे तो साधारणतः पैदा कर ही लेता है। सुअर और कुत्ते तो अपने जीवन काल में सौ-पचास बच्चे पैदा करते हैं। मक्खी, मच्छर, मछली, चींटीं, दीमक आदि तो कई-कई सौ अण्डे देती हैं। मुर्गी को ही देखिए वह अपने जीवन काल में कई-सौ अण्डे देती होगी। यह उत्पादन-क्रम विश्व के लिए एक सङ्कट सिद्ध हो सकता है। यदि एक प्राणी की भी यह वंश-वृद्धि निर्बाध गति से चले तो उसके बच्चे ही इस सारी धरती पर कुछ ही वर्षों में छा जावें और अन्य प्राणियों को खड़े रहने के लिए भी जगह न बचे। पर कोई सूक्ष्म सत्ता इस वृद्धि को नियन्त्रित करने के लिए रोग, युद्ध, दुर्भिक्ष, अभाव आदि पैदा करती रहती है और वे सीमित संख्या में उतने ही बने रहते हैं, जितने के लिए धरती पर गुंजायश है। यदि ऐसा न होता तो करोड़ों वर्षों से चले आ रहे जीवधारी अब तक इतने हो गये होते कि उन्हें अन्य लोक में भेजने के अतिरिक्त और कोई मार्ग न रहता।

जिस ऋतु में जो रोग होता है, उसको शमन करने वाली जड़ी-बूटियाँ भी उसी ऋतु में होती हैं। फल, शाक और अन्नों के बारे में भी यही बात है। ऋतु की आवश्यकता के अनुसार ही पृथ्वी में से वनस्पति और फल फूल पैदा होते हैं। जहाँ के निवासियों को वहीं की जलवायु और अन्न, शाक, औषधि अनुकूल पड़ती हैं। यह कार्य किसी विचारवान् शक्ति का ही हो सकता है।

नियन्त्रण और सन्तुलन की यह महत्त्वपूर्ण प्रक्रिया अपने आप होती रहे, ऐसा संभव नहीं। इसके पीछे कोई विचारशील चेतन सत्ता ही काम करती है। उस ज्ञानवान् चित्तशक्ति को ईश्वर नाम दिया जाता है। उसके अस्तित्व से इन्कार करना, दिन रहते सूरज को न मानने जैसा दुराग्रह ही कहा जाएगा।

□

ईश्वर और उसकी अनुभूति

इस संसार में रहते हुए मनुष्य सफलताओं के लिए नाना प्रयत्न करता है; किन्तु उसकी निजी इच्छाएँ प्रायः परिस्थितियों की परतन्त्रता के कारण पूर्ण नहीं होती। उद्योग करने से भी अभीष्ट लाभ नहीं होता तो भाग्य के अस्तित्व को स्वीकार करना पड़ता है, जिससे मनुष्य-जीवन की अवधि अपरिमित सी दिखाई देने लगती है। जीव की अमरता और उसकी परतंत्रता—इन दो वस्तुओं पर विचार करने के उपरान्त हम इस तथ्य पर पहुँचते हैं कि एक शक्ति ऐसी भी है जो इस सृष्टि का नियमन करती है। बालक का जन्म होता है तथा सामान्य मनुष्य उसे एक सामान्य संयोग मानकर सांसारिक प्रपंचों में लग जाते हैं; किन्तु विचारवान् व्यक्ति के लिए यही सबसे महत्त्वपूर्ण घटना भी हो सकती है। हाड़-माँस के इस छोटे से पिंड का गर्भ स्थान जैसी अपर्याप्त जगह में किस तरह पालन-पोषण होता है? किस तरह वह साँस ग्रहण करता होगा? कहाँ से प्रकाश मिलता होगा? रस, रक्त आदि का संचालन किस तरह होता होगा? माँस के कटघरे में आबद्ध जीव के लिए इतनी कठिन व्यवस्थाओं पर विचार करने से हैरत में रह जाना पड़ता है। लगता है कोई अदृश्य शक्ति ही इस संसार के भाग्य और परिस्थितियों का निर्माण करती रहती है।

सब कुछ चमत्कार-सा लगता है, पर है सत्य। अपने अन्दर की खोज करते हैं तो केवल हाड़-माँस, रक्त, मल-मज्जा को ही सार-भूत नहीं पाते। इससे भी उच्चतर किसी चेतन तत्त्व का आभास होता है। यह अन्तर्बोध कहाँ से आया? यह प्रश्न बार-बार उठता है, ईश्वर की धारणा को अस्तित्व में मान लेने से ही सन्तोष नहीं होता। उसकी खोज भी करनी पड़ती है। इसके लिए ध्यान निजत्व पर टिकता है। अपने आपको जानने से संभवतः ईश्वर विषयक ठोस निष्कर्ष निकले, यह समझकर सारा ध्यान अन्तर्चेतना पर जमा देते हैं, तो उसकी स्थिति के साथ-साथ किसी प्रेरक सत्ता

का ज्ञान होता है। ईश्वर का अस्तित्व स्पष्ट नजर आने लगता है। उसकी सत्ता का अनुभव जिधर दृष्टि जाती है उधर ही होने लगता है। ध्यानपूर्वक देखने से प्रत्येक वस्तु, प्रत्येक प्राणी में ईश्वरता और उसकी समर्थता प्रकट होती है।

सूर्य, चन्द्रमा, आकाश, पहाड़, नदियाँ, पशु-पक्षी और इनसे सम्बन्धित अनेक क्रियायें—भरण-पोषण उत्पादन संरक्षण आदि में उस सर्वव्यापक सत्ता का ही हस्तक्षेप कार्य कर रहा दिखाई देता है। इसे प्रकृति या निसर्ग कह कर टाला नहीं जा सकता; क्योंकि प्रकृति अपने आप में अपूर्ण है। वह स्वतः गतिशील नहीं है। जहाँ भी क्रियाशीलता दिखाई देती है वहीं प्रकृति के साथ-साथ विश्व-चेतना का भी प्रादुर्भाव दिखाई देने लगता है।

महात्मा टालस्टाय ने लिखा है "मैंने पहले अनेक तर्कों के द्वारा ईश्वर के अस्तित्व को सिद्ध करना चाहा; किन्तु उनसे बोध न हुआ, पर इससे एक बात मेरी समझ में आई कि संसार का कारण देश या काल की भाँति कोई वस्तु नहीं है। यदि 'मैं' हूँ तो इसका कारण भी कुछ जरूर होगा। यह कारण किसी आदि कारण पर आधारित होंगे। सम्पूर्ण सृष्टि का जो मूल कारण होगा उसे ही लोगों ने ईश्वर कहा है। ये विचार मुझे पसन्द आ गया और इसे ही समझने में अपनी सारी चेष्टा लगा दी। इन प्रश्नों के सुलझाने में मैं जितना ही उलझता गया उतनी ही एक बात मेरी बुद्धि में स्थिर होती गई कि ईश्वर स्रष्टा है, वही संसार का पालन करता है। इस विश्वास ने मेरी क्षुद्रता प्रकट करदी। तबसे मैं निरन्तर परमेश्वर से ही प्रार्थना किया करता हूँ 'प्रभो! मुझे शक्ति दो, ज्ञान दो ताकि मेरे जीवन की गति रुकने न पाये।"

नास्तिकता और अज्ञेयवाद के झूँठे वितण्डावादों की अपेक्षा घटनाओं की विद्यमानता अधिक बलवत्तर है। हमारी अन्तर्चेतना यह सिद्ध करती है कि कोई समष्टि मन इस विश्व में अवश्य विद्यमान है, जो सारे संसार को एक क्रम व्यवस्था से चलाता रहता

है। यह प्रकृति की तरह जड़ नहीं है। स्वार्थी या कठोर भी नहीं है प्रत्युत अनन्त शक्तिशाली, सर्वज्ञानी तथा प्रेम स्वरूप है। यह सत्ता न होती तो मनुष्यों के हृदय में प्रेम की अजस्र सत्ता कहाँ से आती? सौन्दर्य की आध्यात्मिक आकाँक्षा का उदय उस परम सुन्दर की अनुभूति का अंश ही तो है। इन सिद्धान्तों का खण्डन किसी भी तरह नहीं किया जा सकता। चेतना का नियमन करने वाली कोई कारण-सत्ता है जरूर।

प्रेम और सौन्दर्य की तरह प्रत्येक व्यक्ति में ज्ञान की जो स्फूर्ति हुआ करती है वह भी तो परमात्मा के प्रकाश की ही स्थिति है। जाग्रत अवस्था में प्रत्येक वस्तु जिस तरह व्यवहृत होती है उसका ठीक वैसा ही आकार-प्रकार, डौल-ढाँचा मस्तिष्क में बनता बिगड़ता रहता है। सुप्त अवस्था में भी एक अहं-भावना कार्य किया करती है। जिसकी प्रत्येक गतिविधि का आभास निद्रा टूट जाने के बाद भी होता रहता है, इससे क्या ज्ञान की अविरलता का बोध नहीं होता? यह ज्ञान आखिर कहीं से प्रभासित ही हुआ होगा? उसका भी कुछ न कुछ अस्तित्व होगा? यह विचार यदि अविचल भाव से चलते रहें तो अन्त में हम ईश्वरीय-अस्तित्व की परिधि में ही पहुँचेंगे। वही सर्वत्र अपनी चेतना का प्रकाश फैला रहा है, इस विकास के साथ ही अपना ज्ञान परिपूर्ण बनता है।

हर तरफ से टकराकर मनुष्य बार-बार इस निष्कर्ष पर पहुँचता है कि बिना किसी कारण के इस संसार का निर्माण हो ही नहीं सकता। बिना किसी हेतु के मनुष्य का यहाँ आगमन सम्भव ही नहीं है। इस बात को कहाँ तक टाला जा सकता है, किसी ने हमें जन्म दिया है, हमारा लालन-पालन किया है, हमें प्रेम किया है। मनुष्य की निजी इच्छाएँ परवश हैं। वह प्रत्येक कार्य कर गुजरने के लिए पूर्ण क्षमतावान् नहीं है। फिर उसके पास मानवीय संदेहों-शंङ्काओं की समाधान शक्ति भी तो नहीं है। ऐसी अवस्था में इसे कोई कैसे मानेगा कि मनुष्य का जन्म प्रकृति का कार्य है। प्रत्येक

कार्य ठीक विधि-व्यवस्था पर चल रहा है, अतः उसका संचालन कर्त्ता भी निःसन्देह हमारे मन की तरह ही विचारपूर्ण होना चाहिए।

ईश्वर के अस्तित्व पर विश्वास कर लेने से सदैव उसकी पुष्टि ही हुई है। भारतीय तत्त्व-वेत्ताओं ने गहन अनुसंधान के बाद सबसे पहला आदेश यही दिया है। 'ईश्वर पर विश्वास करो' और इस संसार को ही उसके होने का प्रमाण समझो। विश्वास बना लेने के बाद मनुष्य की चेतना अन्तर्मुखी हो जाती है, फलस्वरूप तर्क और अविश्वास की छाया अपने आप हटने लगती है और मनुष्य पूर्ण प्रकाश की ओर शनैःशनैः बढ़ने लगता है। सिद्धि प्राप्ति के तुरन्त बाद ही 'ईश्वर पर विश्वास करो' का सर्व-निश्चयात्मक आदेश प्रामाणिक कहा जा सकता है; क्योंकि उन महापुरुषों के जीवन से हमें दिव्यता, असीमता और पूर्णता का आभास मिलता है। सभी कालों और देशों के मनुष्यों ने परमात्म-सत्ता को माना है। ऊपर-नीचे, भीतर-बाहर, अन्तरिक्ष, आकाश, सूर्य-चन्द्रमा में सर्वत्र उसी के प्रकाश का बखान किया है। जिन वेदान्तियों, तार्किक तथा दार्शनिकों ने मानव बुद्धि का यथा साध्य प्रयोग किया है उन्होंने उसके अस्तित्व को प्रमाणित किया है। योगियों ने उसी अन्तर्ज्योति को अनुभव किया है।

कितने ही विरोध उत्पन्न किये जाएँ; किन्तु जीवन की चेतनशीलता के आगे आकर सारे अज्ञेय-विचार समाप्त होने को मजबूर हो जाते हैं। जहाँ मनुष्य की विवशता है, वहीं ईश्वर की स्थिति है। जहाँ मनुष्य की बुद्धि तथा शक्तियाँ कुछ प्रयोजन सिद्ध नहीं कर पातीं; किन्तु गतिविधियाँ बराबर चलती रहती हैं, वहीं परमात्मा विराजमान है। यह तथ्य भुलाया या ठुकराया नहीं जा सकता।

अनेक उपलब्धियों, अन्वेषणों तथा गहन जीवन-दर्शन के परिणामस्वरूप उस परमात्मा को बुद्धि संगत और निश्चित ठहरा कर ही महापुरुषों ने उसे जानने की शिक्षा दी है। शास्त्रकार का कथन है—

इह चेदवेदीदथ सत्यमस्ति,
न चेदिहावेदीन्महती विनष्टिः।
भूतेषु भूतेषु विचित्य धीराः,
प्रेत्यास्माल्लोकादमृता भवन्ति॥—(केन० २.५)

"अर्थात्—यदि इस जीवन में परमात्मा को जान लिया तो यह जन्म सार्थक हुआ। और यदि उसे न जान पाये तो यह निश्चय ही बहुत बड़ी हानि है। बुद्धिमान् व्यक्ति प्रत्येक प्राणी में उसी का दर्शन करते हुए अजर-अमर हो जाते हैं।"

सर्वशक्तिमान् परमेश्वर और उसका सान्निध्य

प्रत्येक कर्म का कोई अधिष्ठाता जरूर होता है। परिवार के वयोवृद्ध मुखिया के हाथ सारी गृहस्थी का नियन्त्रण होता है, मिलों-कारखानों की देखरेख के लिये मैनेजर होते हैं, राज्यपाल-प्रान्त के शासन की बागडोर सँभालते हैं। राष्ट्रपति सम्पूर्ण राष्ट्र का स्वामी होता है जिसके हाथ में जैसी विधि व्यवस्था होती है उसी के अनुरूप उसे अधिकार भी मिले होते हैं। अपराधियों की दंड-व्यवस्था, सम्पूर्ण प्रजा के पालन-पोषण और न्याय के लिए उन्हें उसी अनुपात से वैधानिक या सैद्धान्तिक अधिकार प्राप्त होते हैं। अधिकार न दिए जाएँ तो लोग स्वेच्छाचारिता, छल-कपट और निर्दयता का व्यवहार करने लगें। न्याय-व्यवस्था के लिए शक्ति और सत्तावान् होना उपयोगी ही नहीं आवश्यक भी है।

यस्येमे हिमवन्तो महित्वा यस्य समुद्रं रसया सहाहुः।
यस्येमाः प्रदिशो यस्य बाहू कस्मै देवाय हविषा विधेम॥
ऋ० १०/१२१/४

"हे मनुष्यो! बर्फ से आच्छादित पहाड़, नदियाँ, समुद्र जिसकी महिमा का गुणगान करते हैं। दिशायें जिसकी भुजायें हैं हम उस विराट् विश्वपुरुष परमात्मा को कभी न भूलें।"

गीता के "येन सर्वमिदं ततम्" अर्थात् "यह जो कुछ है परमात्मा से व्याप्त है" की विशद व्याख्या करते हुये योगिराज अरविन्द ने लिखा है—

"यह सम्पूर्ण संसार परमात्मा की ही सावरण अभिव्यन्जना है। जीव की पूर्णता या मुक्ति और कुछ नहीं भगवान् के साथ चेतना, ज्ञान, इच्छा प्रेम और आध्यात्मिक सुख में एकता प्राप्त करना तथा भागवती शक्ति के कार्य सम्पादन में अज्ञान, पाप आदि से मुक्त होकर सहयोग देना है। यह स्थिति उसे तब तक प्राप्त नहीं होती जब तक आत्मा अहङ्कार के पिंजड़े में कैद है, अज्ञान में आवृत है तथा उसे आध्यात्मिक शक्तियों की सत्यता पर विश्वास नहीं होता। अहङ्कार का जाल, मन, शरीर, जीवन, भाव, इच्छा, विचार, सुख और दुःख के संघर्ष पाप, पुण्य, अपना, पराया आदि के जटिल प्रपंच सभी मनुष्य में स्थिति एक उच्चतर आध्यात्मिक शक्ति के बाह्य और अपूर्ण रूप मात्र हैं। महत्ता इसी शक्ति की है, मनुष्य की नहीं, जो प्रच्छन्न रूप में आत्मा में अधिगत है।"

योगिराज के इस निबन्ध से तीन अत्यन्त महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त व्यक्त होते हैं। (१) यह जो संसार है परमात्मा से व्याप्त है। उसके अतिरिक्त सब मिथ्या है, माया है, भ्रम है, स्वप्न है। (२) मनुष्य को उसकी इच्छानुसार सृष्टि संचालन के लिये कार्य करते रहना चाहिये। (३) मनुष्य में जो श्रेष्ठता, शक्ति या सौन्दर्य है वह उसके दैवी गुणों के विकास पर ही है।

मनुष्य जीवन के सुख और उसकी शान्ति के लिए इन तीनों सिद्धान्तों का पालन ऐसा ही पुण्य-फल-दायक है। जैसा त्रिवेणी स्नान करना। मनुष्य दुष्कर्म अहङ्कार से प्रेरित होकर रहता है, पर वह बड़ा क्षुद्र पापी है जब परमात्मा की मार उस पर पड़ती है तो बेहाल होकर रोता-चिल्लाता है। सुख तो उसकी इच्छाओं के अनुकूल सात्विक दिशा में चलने में, प्राकृतिक नियमों के पालन करने में ही है। अपनी क्षणिक शक्ति के घमण्ड में आया हुआ मनुष्य कभी सही मार्ग पर नहीं चलता,

इसलिए उसे सांसारिक कष्ट भोगने पड़ते हैं। परमात्मा ने यह व्यवस्था इतनी शानदार बनाई है कि यदि सभी मनुष्य इसका पालन करने लगें तो इस संसार में एक भी प्राणी दु:खी और अभावग्रस्त न रहें।

ईश्वर उपासना मनुष्य का स्वाभाविक धर्म है। नदियाँ जब तक समुद्र में नहीं मिल जातीं अस्थिर और बेचैन रहती हैं। मनुष्य की असीमता भी अपने आपको मनुष्य मान लेने की भावना से ढकी हुई है। उपासना विकास की प्रक्रिया है। संकुचित को सीमा रहित करना, स्वार्थ को छोड़कर परमार्थ की ओर अग्रसर होना, "मैं" और मेरा छुड़ाकर "हम" और हमारे की आदत डालना ही मनुष्य के आत्म-तत्त्व की ओर विकास की परम्परा है; पर यह तभी सम्भव है जब सर्व शक्तिमान् परमात्मा की सत्ता को स्वीकार कर लें, उसकी शरणागति की प्राप्ति हो जाए। मनुष्य रहते हुए मानवता की सीमा को भेदकर उसे देवस्वरूप में विकसित कर देना ईश्वर की शक्ति का कार्य है। उपासना का अर्थ परमात्मा से उस शक्ति को प्राप्त करना ही है।

जान-बूझकर या अकारण परमात्मा कभी किसी को दण्ड नहीं देता। प्रकृति की स्वच्छन्द प्रगति-प्रवृत्ति में ही सबका हित मियंत्रित है। जो इस प्राकृतिक नियम से टकराता है वह बार-बार दु:ख भोगता है और तब तक चैन नहीं पाता, जब तक वापस लौटकर फिर उस सही मार्ग पर नहीं चलने लगता है। भगवान् भक्त की भावनाओं का फल तो देते हैं; किन्तु उनका विधान सभी संसार के लिए एक जैसा ही है। भावनाशील व्यक्ति भी जब तक अपने आप की सीमाएँ नहीं पार कर लेता, तब तक अटूट विश्वास, दृढ़ निश्चय रखते हुए भी उन्हें प्राप्त नहीं कर पाता। अपने से विमुख प्राणियों को भी वे दु:ख दण्ड नहीं देते। दु:ख दण्ड देने की शक्ति तो विधान में ही है। मनुष्य का विधान तो देश, काल और परिस्थितियोंवश बदलता भी रहता है, किन्तु उसका विधान सदैव एक जैसा ही है। भावनाशील व्यक्ति भी उसकी चाहे कितनी ही उपासना करे— सांसारिक कर्त्तव्यों की अवहेलना कर या दैवी-विधान का उल्लंघन

कर कभी सुखी नहीं रह सकते। जैसा कर्म-बीज वैसा ही फल—यह उसका निश्चल नियम है। दूसरों का तिरस्कार करने वाले कई गुना तिरस्कार पाते हैं। परमार्थ उसी तरह लौटकर असंख्य गुना सुख पैदा कर मनुष्य को तृप्त कर देता है। सुख और दुःख, बन्धन और मुक्ति मनुष्य के कर्मों के अनुसार ही प्राप्त होते हैं। दुष्कर्मों का फल भोगने से मनुष्य बच नहीं सकता, इस विधान में कहीं राई रत्ती भर भी गुंजायश नहीं है।

अशुभ कर्मों का सम्पादन और देह का जड़ अभियान ही मनुष्य को छोटा बनाए हुए है। शुभ-अशुभ कर्मों के फलस्वरूप सुख-दुःख का भोक्ता न होने पर भी आत्मा मोहवश होकर दुःख भोगती है। "मैं देह हूँ" "मुझे सारे अधिकार मिले ही चाहिए" यह मान लेने से जीव स्वयं कर्त्ता-भोक्ता बन जाता है और इसी कारण वह 'जीव' कहलाता है। जब तक वह इतनी सी सीमा में रहता है तब तक उसकी शक्ति भी उतनी ही तुच्छ और संकुचित बनी रहती है। जब वह इस भ्रम रूप देहाभ्यास का परित्याग कर देता है तो वह शिव-स्वरूप, ईश्वर-स्वरूप हो जाता है। उसकी शक्तियाँ विस्तीर्ण हो जाती हैं और वह अपने आपको अनन्त शक्तिशाली, अनन्त आनन्द में लीन हुआ अनुभव करने लगता है।

अपनी तुच्छ सत्ता को परमात्मा की शरणागति में ले जाने से मनुष्य अनेकों कष्ट-कठिनाइयों से बच जाता है और संसार के अनेक सुखों का उपभोग करता है। गृहपति की अवज्ञा करके जिस तरह घर का कोई भी सदस्य सुखी नहीं रह सकता उसी प्रकार परमात्मा का विरोधी भी कभी सुखी या सन्तुष्ट नहीं रह सकता। परमात्मा की अवमानना का अर्थ है उनके सार्वभौमिक नियमों का पालन न करना। अपने स्वार्थ, अपनी तृष्णा की पूर्ति के लिए कोई भी अनुचित कार्य परमात्मा को प्रिय नहीं। इस तरह की क्षुद्र बुद्धि का व्यक्ति ही उसके कोप का भाजन बनता है; पर जो विश्व-कल्याण की कामना में ही अपना कल्याण मानते और तदनुसार

आचरण करते हैं, ईश्वर के अनुदान उन्हें इसी तरह प्राप्त होते हैं जैसे कोई पिता अपने सदाचारी, आज्ञा-पालक और सेवाभावी पुत्र को ही अपने सुख-सुविधाओं का अधिकांश भाग सौंपता है।

पापों का नाश हुए बिना, इन्द्रियों का दमन किए बिना अन्तःकरण की शुद्धि नहीं होती। संसार में रहते हुए मनुष्य कर्मों से भी छुटकारा नहीं प्राप्त कर सकता। अतः निष्काम कर्मयोग परमात्मा की प्राप्ति और सांसारिक सुखोपभोग का सबसे सुन्दर और समन्वययुक्त धर्म है। निष्काम भावनाओं में पाप नहीं होता वरन् दूसरों के हित की, कल्याण की और सबको ऊँचे उठाने की विशालता होती है जिससे अन्तःकरण की पवित्रता बढ़ती है, और सुख मिलता है। अतएव प्रत्येक मनुष्य को संसार-समर का योद्धा बनकर ही जीवन-यापन करना चाहिए। वह साहस, वह गम्भीरता और वह कार्य करने की भावना मनुष्य ब्रह्म ज्ञान और ब्रह्म सान्निध्यता में ही प्राप्त करता है।

ईश्वर का ज्ञान हो जाने पर सांसारिक संयोग वियोग से उत्पन्न होने वाले सुख-दुःख मनुष्य को बन्धन में नहीं बाँध पाते। यह कल्पित संसार जीव की अपनी कल्पना के सिवाय और कुछ नहीं है। इसमें घट-बढ़ हुआ ही करती है और इसमें जीव की ममता होने के कारण इसमें बढ़ती होने पर भी प्रसन्न होता है और कमी होने पर दुःखी होता है। उदाहरण के लिए—जब परिवार में कोई बच्चा पैदा होता है तो लोग खुशी मनाते हैं पर इससे परमात्मा की सृष्टि में कोई कमी नहीं आई। जीव तो अमर है जैसे पहले था वैसे ही अब भी है, केवल पंच भौतिक तत्त्वों का एक शरीर के रूप में संयोग हुआ। इसी प्रकार कोई मर जाता है तो दुःख मनाते हैं पर पहली स्थिति की तरह इस बार भी परमात्मा की सृष्टि में बढ़ोत्तरी नहीं हुई। पंच भौतिक शरीर का वियोग मात्र हुआ जीव तो अपने मूल रूप में अब भी विद्यमान है। इस गूढ़ रहस्य को न जानने के कारण ही मनुष्य सांसारिक बन्धनों में बँधकर तरह-तरह के दुःख भोगता है। अतः कल्याणकामी पुरुष के लिये बादल समान क्षण-क्षण रङ्ग

बदलने वाले विनाश-शील व्यावहारिक जगत् में मोह का सम्बन्ध न बाँधकर अविनाशी और अचल परम सत्ता में चित्त को जोड़ देने और लोक-कल्याण के लिये निष्काम कर्म करने में ही इस जीवन की सार्थकता है।

सद्प्रेरणाएँ प्रत्येक मनुष्य के अन्तःकरण में छिपी रहती हैं। दुष्प्रवृत्तियाँ भी उसी के अन्दर होती हैं। अब यह उसकी अपनी योग्यता, बुद्धिमत्ता और विवेक पर निश्चित है कि वह अपना मत देकर जिसे चाहे उसे विजयी बना दे। चित्त का मूल स्वभाव शान्त है, आत्मा आनन्दमय है जो इस अपनी मूल-प्रवृत्ति को डिगाता नहीं अर्थात् सद्प्रेरणाओं में स्थिर रहता है, जगत् में वही योद्धा अजेय है जिसका स्वभाव किसी भी प्राणी पदार्थ के स्वभाव से अपने शान्त स्थिर चित्त के स्वभाव को चलायमान नहीं होने देता। जगत् के प्राणी और पदार्थों में इन्द्रियों के द्वारा जिसके चित्त में क्षोभ उत्पन्न होता है वह निर्बलता है। उसे अपनी निर्बलता का दण्ड भी भोगना ही पड़ता है। सुख का उपभोग तो यहाँ शक्तिमान् सूरमा ही करते हैं।

परमात्मा जितना कृपालु है कठोर भी उससे कम नहीं है। उसकी एक शिव शक्ति भी है जो निरन्तर ध्वंस किया करती है। ईश्वर की आज्ञाओं की जो जान-बूझकर अवज्ञा करता है उसे परमात्मा की कठोरता का दण्ड भुगतना ही पड़ता है। संसार की व्यवस्था, गृह, समाज, राज्य या राष्ट्र से भी सर्वोपरि है। अतः गृहपति, राज्यपाल या राष्ट्रपति की तुलना में उसके पास शक्तियाँ भी अतुल होती हैं। विश्व नियम का प्रजा में पालन कराने वाला परमात्मा बहुत बड़ा है, बड़ा कठोर, बड़ा शक्तिशाली है। गीता में भगवान् कृष्ण ने स्वयं कहा है—

कालोऽस्मि लोकक्षयकृत्प्रवृद्धो, लोकान्समाहर्तुमिह प्रवृत्तः।
ऋतेऽपि त्वां न भविष्यन्ति सर्वे, येऽवस्थिताः प्रत्यनीकेषु योधाः॥

(गीता ११/३२)

अर्थात्-मैं लोकों का नाश करने वाला बढ़ा हुआ महाकाल हूँ। इस समय इन लोकों को नष्ट करने के लिए प्रवृत्त हुआ हूँ, इसलिए हे अर्जुन! जो यह प्रतिपक्षी सेना है वह तेरे न मारने पर भी जीवित नहीं बचेगी। बिना युद्ध के भी इनका नाश हो जाएगा।

वह परमात्मा सचमुच बड़ा शक्तिशाली, बड़ा बलवान् है। उसकी अवज्ञा करके कोई बच नहीं सकता। अत: उसी के होकर रहें, उसी की आज्ञाओं का पालन करें, इसी में मनुष्य मात्र का कल्याण है।

परमात्मा की अनन्त अनुकम्पा और उसके दर्शन

भगवान् सदा सभी के साथ है, वह घट-घट वासी और सर्वव्यापी होने के कारण जहाँ भी हम रहते हैं वहाँ हमारे साथ ओत-प्रोत रहा हुआ होता है। इस विश्व में तिल-भर भी ऐसा नहीं जहाँ भगवान् न हो। हमारी हर साँस के साथ वह भीतर जाता और बाहर निकलता है। रक्त की हर तरंग के साथ वह अंग-प्रत्यंग पर प्रतिक्षण दौड़ता है, हृदय की हर धड़कन के साथ उसका ताल-वाद्य बजता रहता है। जब हम सो जाते हैं तब भी हमारी चौकसी के लिये जागता रहता है। माता की गोदी की तरह निद्रा की चादर से ढककर वह हमें अपनी छाती से चिपका कर सुलाया करता है। जब सब ओर से जीव अशान्त और क्रान्त होकर थका हुआ चकनाचूर होता है तो निद्रा के रूप में परमात्मा की गोदी ही उसे विश्रान्ति प्रदान करती है। असमर्थ जीव को चिरनिद्रा में सुलाकर क्लोरोफार्म देकर आपरेशन करने वाले और सड़ा अंग काटकर उसकी जगह नया अंग लगा देने वाले कुशल डॉक्टर की तरह वही पुनर्जन्म की व्यवस्था करता है, मृत्यु और कुछ नहीं एक गहरी चिरनिद्रा मात्र होती है।

प्रभु की अनन्त अनुकम्पा को हर घड़ी अनुभव किया जा सकता है। उसके इतने अनन्त अनुदान अपने को प्राप्त हैं कि एक-एक पर विचार करने से ऐसा लगता है मानों सृष्टि की सारी विभूति

उसने अपने ही लिए बनाकर रख दी है और वस्तु का मनमाना उपयोग करने की पूरी-पूरी छूट दी गई है। इठला कर बहती हुई नदियाँ, शान्ति से निकलते हुए सरोवर, मधुर मुस्काते हुए पुष्प, चहकते हुए पक्षी, उमड़-घुमड़कर गरजते-बरसते बादल, लहलहाती हरियाली, आकाश चूमने वाले पर्वत, जिधर भी दृष्टि डाली जाय उधर ही प्रकृति का अनन्त सौन्दर्य बिखरा पड़ा है और हर कोई मनचाही मात्रा में उसका पूरा-पूरा निर्बाध रसास्वादन करने को स्वतंत्र है।

जो शरीर हमें मिला है उसका एक-एक कल पुर्जा ऐसा कीमती है कि विज्ञान की उन्नति के इस युग में भी वैज्ञानिक लोग करोड़ों रुपया खर्च करके भी वैसे कल पुर्जे नहीं लगा सकते जैसे इस देह में लगे है। आँखें जैसा स्पष्ट देखती हैं वैसा कैमरा कोई अब तक नहीं बना सका। मस्तिष्क की रचना ऐसी विलक्षण है कि उसके सूक्ष्म विद्युत् संस्थान की छोटी-छोटी गतिविधियों को समझने का प्रयत्न करने मात्र में मानव बुद्धि थक जाती है। हाथ, पाँव, पाचन-संस्थान, स्वांस-संस्थान, रक्त- संस्थान, मल विसर्जन संस्थान की रचना और उपयोगिता ऐसी आश्चर्यजनक है कि उस वैज्ञानिक की, उस कलाकार की कृति को निहारते-निहारते यही लगता है कि इस रचनाकार को, मानव शरीर में हुई अद्भुत रचना प्रक्रिया को समझ सकना भी कठिन है। समझने की आवश्यकता भी नहीं।

इस मानव शरीर में सुख-सुविधाएँ प्राप्त हैं, उन्हीं का विश्लेषण करें और अन्य जीवन-जन्तुओं की तुलना में उनकी श्रेष्ठता का अनुभव करें, तो मन कृतज्ञता से भर जाता है। परमात्मा का अनन्त अनुदान प्राप्त करे, उस पर सन्तोष व्यक्त करे और प्रभु का आभार मानें, तो यह सारा जीवन इस एक कार्य को पूरा करने में भी पर्याप्त नहीं हो सकता। बाह्य जीवन में जो उपलब्धियाँ हमें प्राप्त हैं वे अद्भुत हैं। बोलने की, लिखने की, पढ़ने की सोचने की जो विशेषताएँ इतनी मात्रा में किसी भी जीव को नहीं मिल सकी वह हमें प्राप्त है।

उसकी कैसी मंगलमय व्यवस्था है कि उसके सहारे हँसते-खेलते जिन्दगी कट जाती है और जो पुण्य-परमार्थ प्राप्त करना लक्ष था वह भी उस छोटी बगीची के सींचने में पूरा हो जाता है। आनन्द और उल्लास का कितना श्रेष्ठ समन्वय परिवार रचना के साथ संबन्धित है, उस पर विचार करते हैं, तो लगता है पूरी आनन्दानुभूति का एक बहुत ही मनोरम व्यवस्था-क्रम बनाकर हमारे साथ जोड़ दिया गया है। मनोरंजन की परिपूर्ण व्यवस्था रख दी गई और कर्त्तव्य-पालन एवं आत्म-विकास का भरपूर अवसर उसमें मौजूद है।

संसार की बाह्य परिस्थितियों में भगवान् का कैसा कड़ुआ-मीठा स्वाद सन्निहित किया हुआ है कि एक के संबंध से दूसरे की महत्ता बढ़ती है। रात का अंधकार दिन के प्रकाश का महत्त्व बढ़ाता है और दिन का प्रकाश रात्रि के अंधकार को श्रेय प्रदान करता है। गरीबी की उपस्थिति से अमीरी का गौरव टिका हुआ है और अमीरी से खिन्न हुए लोग गरीबी—संन्यास की शरण में शांति खोजते हैं। रोग से आरोग्य का महत्त्व समझ में आता है, पाप को देखकर पुण्य की प्रतिक्रिया उत्पन्न होती है। दुरात्माओं की उपस्थिति से महात्माओं का सम्मान होता है। यदि सब कुछ एकसा ही रहा होता—व्यक्तियों और परिस्थितियों में अन्तर न रहता तो मनुष्य की सूझ-बूझ का ही कोई महत्त्व न करता, वह कुंठित पड़ी रहती और जो हलचल चारों ओर दिखाई पड़ती है। उसके स्थान पर सन्नाटा छाया होता। जिन बातों को हम परमात्मा की भूल, अकृपा एवं अव्यवस्था समझते हैं उसमें वस्तुतः उसकी सुव्यवस्था सन्निहित रहती है।

जो परिस्थितियाँ हमें अपने लिये प्रतिकूल अप्रिय, अखरने वाली, कष्टकारक लगती हैं उनमें भी परमात्मा का सत्प्रयत्न और सदुद्देश्य छिपा रहता है। पढ़ने के लिए ताड़ना करने वाला अध्यापक, सड़े अंग का ऑपरेशन करने वाला डॉक्टर, उद्दण्डता के लिए क्रोध प्रकट करने वाला पिता, अपराध के लिए दण्ड देने वाला न्यायाधीश उन्हें बुरे लगते हैं जिन्हें उनके व्यवहार से कष्ट पहुँचता है। पर कष्ट

पहुँचाना सदा अकृपा में ही नहीं होता। माता को प्रजनन का कष्ट भुगतना पड़ता है, पर क्या यह किसी के क्रोध या दुर्वासा का प्रतिफल होता है? ईश्वर का प्रेम और अनुग्रह कई बार माता के दूध पिलाने की तरह मधुर और कई बार कान ऐंठने की तरह कड़ुआ होता है। बालक नहीं माता ही जानती है कि इन दोनों में केवल बालक के कल्याण और सुख का ही ध्यान रखा गया है।

वह परमात्मा हमारे प्रतिक्षण साथ रहता है पर उसकी उपस्थिति से जो लाभ मिलना चाहिए उसे कोई विरले ही उठा पाते हैं। घर की जमीन में गड़ा धन, यदि अपनी जानकारी में न हो तो उससे क्या लाभ मिलेगा? गले में पड़े हुए हीरे के कण्ठा को यदि हमने काँच जितना ही समझ लिया हो, तो उससे अपने को क्या लाभ प्राप्त होगा? परमात्मा की अपार और अत्यन्त शक्ति एवं अनुकम्पा हर घड़ी अपने साथ है पर उसका परिपूर्ण लाभ उठा सकना अनजानों के लिए कठिन है। जिस जानकारी के आधार पर परमात्मा के सहचर होने का समुचित सत्परिणाम प्राप्त किया जा सकता है उसे ही सद्ज्ञान या अध्यात्म कहते हैं।

कपड़े के झीने पर्दे की आड़ में बैठे हुए दो व्यक्ति एक दूसरे को देख नहीं सकते यद्यपि यह अनुभव करते हैं कि कोई पर्दे के उधर बैठा है। हम यह तो जानते हैं कि परमात्मा हमारे समीप है, भीतर ही है पर उसकी उपस्थिति से वह आनन्द और लाभ नहीं उठा पाते जो सान्निध्य सहचरत्व से मिलना चाहिये। राजा-रईस, अमीर-अधिकारी, योद्धा, विद्वान, कलाकार आदि श्रेष्ठ लोगों की मित्रता और समीपता से जब लोग बहुत लाभ उठा लेते हैं तो इतने उदार और अनुग्रही परमात्मा के निरन्तर साथ रहते हुए भी कुछ लाभ न उठा सके तो यह अपना दुर्भाग्य ही कहा जाएगा।

अज्ञान का आवरण उस पर्दे के समान है जो पास बैठे हुए व्यक्तियों को भी दूरस्थ जैसी स्थिति में बनाए रहता है। जमीन में गड़ा धन और गले में पड़ा कंठा अज्ञान के कारण ही उपयोग में नहीं

आता। अज्ञान इस संसार का एक बड़ा अभाव और दुर्भाग्य है, उसे हटाने के लिए समुचित प्रयत्न किया ही जाना चाहिए।

हम ईश्वर से विमुख न हों

जिन्दगी को ठीक तरह जीने के लिये एक ऐसे साथी की आवश्यकता रहती है जो पूरे रास्ते हमारे साथ रहे, बतावे, प्यार करे, सलाह दे और सहायता की शक्ति तथा भावना दोनों से ही सम्पन्न हो। ऐसा साथी मिल जाने पर जिन्दगी की लम्बी मञ्जिल बड़ी हँसी-खुशी और सुविधा के साथ पूरी हो जाती है। अकेले चलने में यह लम्बा रास्ता भारी हो जाता है और कठिन प्रतीत होता है।

ऐसा सबसे उपयुक्त साथी जो निरन्तर मित्र, सखा, सेवक, गुरु, सहायक की तरह हर घड़ी प्रस्तुत रहे और बदले में कुछ भी प्रत्युपकार न माँगे केवल एक ईश्वर ही हो सकता है। ईश्वर को जीवन का सहचर बना लेने से मञ्जिल इतनी मङ्गलमय हो जाती है कि यह धरती ही ईश्वर के लोक-स्वर्ग जैसी आनंद-युक्त प्रतीत होने लगती है। यों ईश्वर सबके साथ है और वह सबकी सहायता भी करता है पर जो समझते और देखते हैं, वास्तविक लाभ उन्हें ही मिल पाता है। किसी के घर में सोना गड़ा है और उसे वह प्रतीत न हो तो गरीबी ही अनुभव होती रहेगी किन्तु यदि मालूम हो कि हमारे घर में इतना सोना है, तो उसका भले ही उपयोग न किया जाए, मन में अमीरी का गर्व और विश्वास बना रहेगा। ईश्वर को भूले रहने पर हमें अकेलापन प्रतीत होता है पर जब उसे अपने रोम-रोम में समाया हुआ, अजस्र प्रेम और सहयोग बरसाता हुआ अनुभव करते हैं तो साहस हजारों गुना अधिक हो जाता है। आशा और विश्वास से हृदय हर घड़ी भरा रहता है।

जिसने ईश्वर को भुला रखा है, अपने बलबूते पर ही सब कुछ करता है और सोचता है उसे जिन्दगी बहुत भारी प्रतीत होती है, इतना वजन उठाकर चलने में उसके पैर लड़खड़ाने लगते हैं।

कठिनाइयाँ और आपत्तियाँ सामने आने पर भय और आशंका से कलेजा धक-धक करने लगता है। अपने साधनों में कमी दीखने पर भविष्य अन्धकारमय प्रतीत होने लगता है पर जिसे ईश्वर का विश्वास है वह सदा यही अनुभव करेगा कि कोई बड़ी शक्ति मेरे साथ है। जहाँ अपना बल थकेगा वहाँ उसका बल मिलेगा। जहाँ अपने साधन कम पड़ रहे होंगे वहाँ उसके साधन उपलब्ध होंगे। इस संसार में क्षण-क्षण पर प्राणघातक संकट और आपत्तियों के पर्वत मौजूद हैं जो उनसे अब तक अपनी रक्षा करता रहा है वह आगे क्यों न करेगा?

अब तक के जीवन पर यदि हम ध्यान दें तो ऐसे ढेरो प्रसंग याद आ जावेंगे जब चारों ओर अन्धेरा छाया हुआ था और यह प्रतीत होता था कि नाव अब डूबी; पर स्थिति बदली, विपत्ति की घटाएँ हटीं और सुरक्षा के साधन बन गये। लोग इसे आकस्मिक अवसर कहकर ईश्वर के प्रति अपनी आस्था को भुलाते रहते हैं। वास्तविकता यह है कि समय-समय पर हमें दैवी सहायता मिलती है और अपने स्वल्प साधन रहते हुए भी कोई बड़ी शक्ति सहायता करने के लिए आ पहुँचती है। कृतघ्नता को हमने अपने स्वभाव में यदि सम्मिलित नहीं किया है तो अपने निज के जीवन में ही अगणित अवसर दैवी सहायता के ढूँढ सकते हैं और यह विश्वास कर सकते हैं कि उसकी अहेतुकी कृपा निरन्तर हमारे ऊपर बरसती रहती है।

अब तक जिसने समय-समय पर इतनी सहायता की है, जन्म लेने से पहले ही हर घड़ी गरम, मीठे और ताजे दूध से निरन्तर भरे रहने वाले दो-दो डिब्बे जिसने तैयार करके रख दिये थे, माता के रूप में धोबिन, भङ्गन, डॉक्टर, नर्स, आया तथा मनमाना खर्च और दुलार करने वाली एक चौबीस घण्टे की बिना वेतन की सेविका जिसने नियुक्त कर रखी थी, प्रत्येक अवसर पर जिसकी सहायता मिलती रही है, वह आगे भी मिलेगी ही और अपना भविष्य उज्ज्वल बनेगा ही, यह विश्वास करने वाला व्यक्ति कभी निराश नहीं हो सकता। उसकी हिम्मत कभी टूट नहीं सकती। आस्तिकता के

आधार पर हमारी हिम्मत बढ़ती है और साहसी शूरवीरों जैसा कलेजा बना रहता है।

निर्भयता का वरदान

डरता वह है जिसे ईश्वर का डर नहीं होता। जो ईश्वर से डरता है उसके आदेशों का उल्लङ्घन नहीं करता उसे इस संसार में किसी से भी डरना नहीं पड़ता। संसार की हर वस्तु से डरने और आशङ्कित रहने का एक ही कारण है ईश्वर से न डरना उसकी अवज्ञा करना। जो ऐसा नहीं करते, उसे अपना मित्र, सहायक और मार्ग-दर्शक मानते हैं उन्हें सबसे पहला उपहार निर्भयता का प्राप्त होता है। उन्हें फिर किसी से भी डरना नहीं पड़ता, आपत्तियाँ उसे खिलवाड़ सरीखी दीखती हैं। वस्तुतः इस पुण्य उपवन संसार में डरने का कहीं कोई कारण ही नहीं है। कागज का डरावना चेहरा पहन कर छोटे बच्चों को डराने का विनोद किया जाता है वैसा ही विनोद कठिनाइयाँ दिखाकर हमारे साथ किया जाता रहता है।

पिता अपने बच्चे को तलवार घुमाकर डराना चाहे तो क्या बच्चा कभी डरता है? ईश्वर के हाथ में इस संसार की सारी बागडोर है। दीखने वाली कठिनाइयाँ भले ही तलवार जैसी चमकें उनकी मूँठ तो अपने परम स्नेही के हाथ में है फिर डरने की क्या बात रही? ईश्वर विश्वासी का सोचना इसी ढङ्ग का होता है। डराने वाली घटना उसे खिलवाड़ जैसी लगती है और विषम घड़ियों में भी न तो उसे घबराहट होती है और न परेशानी।

अपना सहायक, पिता-माता, सहायक, स्वामी, सखा, भ्राता, सुहृद, परिजन और धन जिसने ईश्वर को मान रखा है उसे किसी बड़े अमीर से, राजाधिराज से अधिक आत्मविश्वास बना रहेगा। राजा-रईसों के लड़के अपने पिता की जरासी शक्ति और सम्पत्ति पर गर्व कर सकते हैं तो अनन्त सामर्थ्यों और असीम विभूतियों के स्वामी ईश्वर को जो अपना पिता मानेगा उसे संसार में फैला सब कुछ अपना ही अनुभव होगा। इतना अतुल वैभव जब अपना-अपने माता-पिता का ही है तब दरिद्रता और गरीबी की बात सोचने का

प्रश्न ही नहीं उठता। गरीब वे हैं जो केवल अपनी ही सम्पत्ति को अपनी मानते हैं। ईश्वर को अपने से पृथक दूर एवं असंबद्ध मानने वाले को ही गरीबी दुःख देती है, और उसे ही तृष्णा सताती है। जब सब कुछ अपने ईश्वर का ही है तो फिर असंतोष किस चीज का? कमी किस बात की?

रास्ता वह भूलता है जिसे बताने वाला नहीं होता या बताने वाले की बात सुनने की जिसे फुरसत नहीं होती। अन्तरात्मा में बैठा हुआ ईश्वर उचित और अनुचित की, कर्त्तव्य और अकर्त्तव्य की प्रेरणा निरन्तर देता रहता है। उसे जो सुनेगा उसका महत्त्व समझेगा और सम्मान करेगा उसे सीधे रास्ते पर चलने में कोई कठिनाई न होगी और जो सीधे रास्ते पर चलता है उसे लोक में सुख और परलोक में शान्ति की कमी नहीं रहती। यश, प्रतिष्ठा और सम्मान उसके आगे-पीछे फिरते हैं। भले ही धन की दृष्टि से वह अमीर न हो पावे; पर महत्ता उसके चरणों पर लोटती रहती है। महापुरुषों और नर रत्नों में ही वह गिना जाता है। ईश्वर को जिसने पहचाना और अपनाया वह नर से नारायण और पुरुष से पुरुषोत्तम बन कर रहता है। सदाचार और कर्त्तव्य परायणता, आत्म-विश्वास और निर्भयता, आशा और धैर्य, आनंद और संतोष यही सब तो आस्तिकता के चिह्न हैं। जैसे-जैसे ईश्वर विश्वास बढ़ता है वैसे ही वैसे यह महानताएँ अपने आप उत्पन्न होती जाती हैं। जीवन की सार्थकता और सफलता इन्हीं तत्त्वों पर तो निर्भर है।

न उपेक्षा करें और न विमुख हों

ईश्वर की उपेक्षा करने में परमात्मा की कोई हानि नहीं। हमारे भजन-ध्यान से उनका कुछ बनता-बिगड़ता नहीं, न उनकी कृपा में इससे कोई अन्तर आता है। वे तो अपने पुत्रों का हित-चिन्तन वैसे ही करते रहते हैं जैसे माता-पिता शिशु का करते हैं।

उपेक्षा में हानि अपनी ही है। अकेलापन सदा अखरता है। दूसरे स्वजन सम्बन्धी एक समय तक ही साथ रह सकते हैं। उनका प्रेम भी बदले की प्रक्रिया पर निर्भर रहता है। फिर उनकी क्षमता और उदारता भी उतनी बढ़ी-चढ़ी कहाँ होती है। सबसे श्रेष्ठ और सबसे सस्ता साथी ईश्वर ही हो सकता है उसकी उपेक्षा करके अपना ही सबसे अधिक अहित होता है। हम उन सब लाभों से वञ्चित रह जाते हैं, जो भगवान् के सान्निध्य में रहने से प्राप्त होते थे, हो सकते थे।

गाड़ी दो पहिये से चलती है। अपनी गाड़ी में एक पहिया अपना और एक ईश्वर का लगालें, तो जो गति आती है वह एक पहिए से नहीं आ सकती। ईश्वर विहीन जीवन ऐसा ही है जैसा बिना शरीर के प्रेत-पिशाच की योनि में विचरण करने वाला आत्मा। उसे अशान्ति ही मिलती है, असंतोष, द्वेष, क्लेश से ही ऐसी मनोभूमि बनती और संत्रस्त रहती है। परमात्मा से विमुख होकर हम पाते कुछ नहीं, खोते बहुत हैं। समय रहते इस भूल को सुधार लिया जाए तो ही अच्छा है।

परमात्मा का दर्शन कैसे मिले?

सृष्टि के कार्य इतने व्यवस्थित तथा नियमित ढङ्ग से चल रहे हैं कि कोई भी विचारवान् व्यक्ति यह मानने के लिये कभी तैयार न होगा कि यह सारे कार्य परमाणुओं के आकस्मिक संयोग के ही फल हैं; अपितु यह मानने के लिये विवश होना पड़ता है कि इस सम्पूर्ण विश्व-व्यवस्था को सुचारु रूप से चलाने वाली कोई चेतन-सत्ता अवश्य विद्यमान है। यह भी कि उसने संसार को एक निश्चित उद्देश्य रखकर बनाया है और प्रत्येक जीवधारी को उसकी पूर्ति के लिये किसी न किसी प्रकार सहायक नियुक्त किया है। हम यह भली-भाँति देखते हैं कि यहाँ जो भी विधान चल रहे हैं वे सब ऐसे हैं, जिन तक मानवीय बुद्धि का पहुँच पाना सहज बात नहीं है, तो भी उसमें एक प्रकार का सामंजस्य जरूर है। ठीक गणित के सिद्धान्त की तरह। अंकों के गुणाभाग जिस प्रकार से नियमित और व्यवस्थित

उत्तर देते हैं, ठीक ऐसी ही विश्व-व्यापी प्रक्रिया चल रही है, जो निश्चित उत्तर देती है। इसलिए हम यह मानने के लिये कदापि तैयार नहीं कि विश्व केवल जड़-परमाणुओं का चमत्कार मात्र है। इस सुन्दर विधि-व्यवस्था का कोई नियामक होना ही चाहिए।

माना कि जड़ पदार्थों की भी एक अनौखी प्रक्रिया है, अर्थात् ग्रह-नक्षत्र जहाँ एक निश्चित पथ, निश्चित कक्षा में रहते हैं, वहाँ वे आपस में टकराते भी हैं। मनुष्य जो इतना बुद्धिमान्, ज्ञानवान्, क्षमतावान् है, वह भी एक दिन नष्ट हो जाता है। शास्त्रों में तो बड़े-बड़े लोकों और लोकपालों के विनाश और लय की चर्चा की गई है, पर यह सब गणित के सिद्धान्त से विमुक्त नहीं है और इसी का नाम व्यवस्था है। जहाँ इस प्रकार का एक नियम बना हुआ है वहाँ नियामक होना भी आवश्यक है। सूर्य-चन्द्रमा, ग्रह-नक्षत्र जब चाहें टकरा जाते। मनुष्य की आयु की एक निश्चित मर्यादा न होती। दिन १५ घण्टे और रात ९ घण्टे। वर्षा के बाद गर्मी और गर्मी के बाद फिर गर्मी और इसके बाद फिर बरसात, तब जाड़ा—इस प्रकार की उल्टी-सीधी क्रियाएँ हुई होतीं, तो यह मानने में कदापि संकोच न होता कि इस संसार में कोई नियम नहीं है और न ही उस व्यवस्था को चलाने वाली कोई चेतन शक्ति है।

ईश्वर की मान्यता कोई निराधार कल्पना नहीं है। उस पर ऋषियों की गहन ज्ञानानुसन्धान की छाप लगी हुई है। मुनियों का विशद चिन्तन और उपनिषदों की साधना का निष्कर्ष मिला हुआ है।

इन शास्त्रों में ईश्वर को सत् अर्थात् सदैव शाश्वत बताया गया है, पर वहाँ यह भी स्पष्ट किया है कि उसे स्थूल नेत्रों के द्वारा नहीं देखा जा सकता। जीवित तथा विकसित होने वाले पदार्थों का रूप देखने में नहीं आ सकता, केवल पार्थिव संयोग से बने निर्जीव पदार्थ ही देखने को मिल सकते हैं, इसलिए परमात्मा का कोई ऐसा लक्षण नहीं मिल सकता, जिसे साकार करके मनुष्य को दिखाया जा सके। यदि वह इस प्रकार परिवर्तन में आ सकने वाली वस्तु होती तो फिर वह चेतन अथवा शाश्वत न रही होती।

इसलिए ईश्वर का साक्षात्कार किसी बाह्य प्रक्रिया से सम्भव नहीं; किन्तु परमात्मा का अन्य बोध-गम्य स्वरूप भी है। इसे बाह्य चर्म-चक्षुओं से भले ही न देखा जा सकता हो, पर आन्तरिक ज्ञान-चक्षुओं से आत्म-निग्रह, आत्म-शुद्धि तथा आत्म-ज्ञान के द्वारा उसकी प्रत्यक्ष अनुभूति प्राप्त की जा सकती है।

प्रसिद्ध पाश्चात्य दार्शनिक कान्ट ने इस तथ्य की पुष्टि में कहा है-"समस्त भौतिक अभिव्यक्ति, कार्य-कारण और भावना से बँधी हुई है, हम उसी के अन्दर रहते, चलते, फिरते तथा उत्पन्न होते हैं; किन्तु उस परमात्मा को बुद्धि के द्वारा जान नहीं सकते। बुद्धि की विशालता की अपेक्षा परमात्मा अधिक व्यापक और गहरा है, हम केवल उसका अनुभव कर सकते हैं, देख नहीं सकते।"

महान् दार्शनिक 'हेगेल' का भी इस सिद्धान्त की ओर झुकाव था; क्योंकि उसका यह विश्वास था कि ईश्वर केवल भावनाओं द्वारा ही अनुभव किया जा सकता है। उसने लिखा है—"ईश्वर का अस्तित्व धर्म का विषय है और उसे अनुभव किया जा सकता है। परमात्मा की व्यापकता और उसकी अभिव्यक्ति का अवगाहन हम उतना ही स्पष्ट कर सकते हैं, जितना हमारा अनुभव गहन और व्यापक होगा।" प्रो० नाइट का मत है-"ईश्वर की भावना हमारे हृदय में इस प्रकार घर कर गई है कि उसे अंतःकरण से बाहर लाना कठिन जान पड़ता है।"

आन्तरिक ज्ञान के द्वारा ही हम परमात्मा का अनुभव प्राप्त कर सकते हैं, उसका साक्षात्कार कर सकते हैं अथवा यों कहना चाहिए कि हम ईश्वर बनकर ही ईश्वर के दर्शन प्राप्त कर सकते हैं। इसमें भी आन्तरिक शक्तियों के विकास की ओर ही संकेत है। कल्पना और चिन्तन, विचार-भावना, स्वप्न आदि के माध्यम से तो उसकी एक झलक ही देख सकते हैं। विश्वास की पुष्टि के लिए यद्यपि यह बुद्धितत्त्व भी आवश्यक है, तथापि उसके पूर्ण ज्ञान के लिए अपने अन्दर प्रविष्ट होना होगा, आत्मा की सूक्ष्म सत्ता में प्रवेश

करना आवश्यक हो जाता है। वहाँ बुद्धि की पहुँच नहीं हो सकती। आत्मा का भेदन आत्मा ही करता है और आत्मा बनकर ही आत्मा का साक्षात्कार किया जा सकता है। इसी बात को ईश्वरीय ज्ञान के बारे में भी घटित किया जाता है। यह ऐसा ही है, जैसे कोई यह कहे कि एक बूँद समुद्र में मिलकर अपने आपको समुद्र अनुभव कर सकती है पर अपने बूँद रूप में समुद्र की गहराई का मापन नहीं कर सकती।

उपनिषदों में यह स्पष्ट किया गया है कि जब परिमित ज्ञान के द्वारा अपरिमित शक्ति का अनुमान न किया जा सका, तो ऋषियों के पास एक ही उपाय शेष रहा। उन्होंने तर्क के आश्रय को तिलांजलि देकर आभ्यन्तरिक ज्ञान का द्वार खटखटाया और उसकी सहायता से सृष्टि के अन्दर ईश्वर की सत्ता को ढूँढ़ने में सफलता प्राप्त की। ईश्वर के अस्तित्व को जो नहीं मानते, उनमें यह बात भी होगी कि वे आन्तरिक ज्ञान की आवश्यकता को भी निर्मूल कह रहे होंगे; पर अब यह निर्विवाद सिद्ध हो चुका है और दर्शन ने भी इस सत्यता को सिर झुका लिया है कि ईश्वर की अनुभूति केवल आन्तरिक ज्ञान की सहायता से ही संभव है।

यह आन्तरिक ज्ञान सर्वसाधारण के लिए सुलभ नहीं है, यह केवल पुरुषार्थियों को ही उपलब्ध हो सकता है; क्योंकि जब तक दूषित वासनाएँ और भौतिक विकार पूर्णतया शान्त नहीं हो जाते, आत्मानुभूति किसी प्रकार भी सम्भव नहीं है और यह प्रक्रिया निःसन्देह भौतिक दृष्टि से काफी कठिन जान पड़ती है; पर यह सिद्धान्त अकाट्य, अपरिवर्तनीय है। ईश्वर को प्राप्त करने के लिए आत्म-शोधन की आवश्यकता अनिवार्य है।

महापुरुष ईसामसीह की वाणी है—"वे पुरुष धन्य है, जिनके अन्तःकरण पवित्र हो गये हैं; क्योंकि शुद्ध आत्मा वाले व्यक्ति ही ईश्वर को प्राप्त कर सकते हैं।"

सत्य का ज्ञान तर्क के द्वारा सिद्ध नहीं हो सकता। वह तो तभी प्राप्त हो सकता है, जब कि खोज करने वाला उसी सत्ता में घुल-मिलकर एक हो जाए, उसी के रंग में पूरी तरह रँग जाए। ईरान

के प्रसिद्ध योगी—शम्शतब्रेज ने इस अवस्था का वर्णन इस शेर में बड़ी सुन्दरता के साथ किया है—

दुई रा चूँ बदर करदम यकी दीदम दु आल रा।
यकी वीनम, यकी जूयम यकी खानम, यकी दानम्॥

अर्थात्-जब तक मैं अपने-पराये के प्रपंच में पड़ा था, तब मुझे ईश्वरीय सत्ता का ज्ञान नहीं हुआ; पर जब से मैंने अपने अहं-भाव को नष्ट कर दिया है, तब से वही परमात्मा ही दिखाई देता है, उसे ढूँढ़ता हूँ, उसे ही पढ़ता और उसे ही जानता हूँ।

आध्यात्मिक विकास का यही मार्ग है। मनुष्य उसे जानता नहीं, पर आन्तरिक ज्ञान के द्वारा उस परम पिता के साथ सम्पर्क स्थापित करता है। वह उसके स्वरूप को न समझते हुए भी उससे एकता स्थापित करता है तो उसकी एक दिव्य अनुभूति मिलती है और वह भी ईश्वरीय गुणों को धारण कर अपना जीवन पूर्णतया प्रेममय और त्यागमय बना लेता है।

यह संसार एक निश्चित विधान के अनुसार चल रहा है। जिसने हमें पैदा किया, पालन-पोषण किया तथा जो हमारी रक्षा करता है, उसके प्रति हमें कृतज्ञ होना चाहिये। अरस्तु के शब्दों में—"जो परमात्मा जगत् का चरम एवं चेतन कारण और सारे विश्व का विधाता है, जो सृष्टि का संचालक है, किन्तु स्वयं अचल है, जिसने सृष्टि को स्वरूप और सौन्दर्य प्रदान किया है, पर स्वयं निराकार है, हम सभी परम-पिता को प्रणाम करते हैं।"

ईश्वरोपासना के सत्परिणाम

शृण्वे वृष्टेरिव स्वनः पवमानस्य शुष्मिणः।
चरन्ति विद्युतो दिवि॥ (ऋ० ९-४१-३)

"बलवान् सोम के तेज अभिषव किये जाते समय विद्युत् के समान घूमते और चमकते हैं और सोम का शब्द वर्षा के शब्द के समान ही सुनाई पढ़ता है।"

ईश्वर की स्तुति और उपासना मनुष्य के कल्याणार्थ आवश्यक मानी गई है। प्राचीन काल के जितने भी धर्म और मतमतान्तर हैं उन सबमें इसका कोई न कोई विधान-पाया जाता है। चाहे ईश्वर को निराकार मानने वालों को देखिये और चाहे साकार वालों को, स्तुति और प्रार्थना की उपयोगिता सब स्वीकार करते हैं। भारतवर्ष में सैकड़ों ही नहीं हजारों विभिन्न सम्प्रदाय पाये जाते हैं, जिनके सिद्धान्तों में जमीन-आसमान का सा अन्तर है; पर एक बात सब में समान रूप से मिलेगी और वह यही कि वे किसी न किसी रूप में ईश्वर का गुणगान अवश्य करते हैं और उससे अपने कल्याण की प्रार्थना करते हैं। थोड़े से अर्द्धदग्ध लोग विज्ञान का नाम लेकर इस बात का विरोध करने को तैयार हो सकते हैं, पर सत्य बात यह है कि उन्होंने न विज्ञान के मर्म को समझा है और न अध्यात्म क्षेत्र में कदम रखा है। ऐसे लोग प्राय: इधर-उधर की दो-चार बातों को सुनकर मिथ्याभिमानी हो जाते हैं और उसी धुन में अपने से कहीं अधिक अनुभवी और ज्ञान-सागर में प्रविष्ट महा-पुरुषों के विरुद्ध निरर्थक बकवाद किया करते हैं।

पर उपासना और साधना के लिए एक आवश्यकीय शर्त यह है कि वह सच्चे भाव से चित्त लगाकर की जाए। आजकल जिस प्रकार बहुसंख्यक 'धार्मिक' कहलाने वाले व्यक्ति दुनिया को दिखाने के लिए अथवा एक रस्म पूरा करने के लिये मन्दिर में जाकर दर्शन कर लेते हैं और नियम को पूरा कर लेने के लिए एकाध माला भी जप लेते हैं, उससे किसी बड़े सुफल की आशा नहीं की जा सकती। उपासना और साधना तो तभी सच्ची मानी जा सकती है जब कि मनुष्य उस समय समस्त सांसारिक विषयों और आसपास की बातों को भूलकर प्रभु के ध्यान में निमग्न हो जाए। जब मनुष्य इस प्रकार की संलग्नता और एकाग्रता में अपने इष्टदेव की उपासना करता है, तभी वह अध्यात्म मार्ग पर अग्रसर हो सकता है और तभी वह दैवी कृपा का लाभ प्राप्त कर सकता है। इसी तथ्य को समझाने

के लिए इस मन्त्र में बतलाया गया है कि जब मनुष्य हृदय और आत्मा से सोम का अभिषव (परमात्मा की उपासना) करता है तब उसे स्वयंमेव ईश्वरीय तेज के दर्शन होने लगते हैं और परमात्मा की कृपा अपने चारों तरफ मेह की तरह बरसती जान पड़ती है।

संसार में जीवन निर्वाह करते हुए एक साधारण मनुष्य को अनेक विघ्न-बाधाओं का सामना करना पड़ता है, विपरीत परिस्थितियों में होकर गुजरना पड़ता है, विरोधियों के साथ संघर्ष करना पड़ता है और लोगों की भली बुरी सब प्रकार की आलोचना को सहन करना पड़ता है। इससे उसके जीवन में स्वभावतः उद्वेग अशान्ति, भय, क्रोध, आदि के अवसर आते हैं जिनका उस पर न्यूनाधिक परिमाण में प्रभाव पड़ता है और वह जीवन में मानसिक अशांति—कष्ट का अनुभव करने लगता है। ऐसा मनुष्य अपने कष्टों के निवारणार्थ और मन तथा आत्मा की शांति के लिये परमात्मा का आश्रय ग्रहण करता है, मन, वचन और कर्म से उसकी उपासना में संलग्न होता है, तो उसकी अनास्था में परिवर्तन होने लगता है। जब साधना में अग्रसर होकर वह अपने चारों ओर परमात्म-शक्ति की क्रीड़ा अनुभव करता है और यह समझने लगता है कि संसार में जो कुछ हो रहा है वह उस प्रभु की प्रेरणा और इच्छा का ही फल है तथा वह जो कुछ करता है उसका अन्तिम परिणाम जीव के लिए शुभ ही होता है, चाहे वह तत्काल उसे न समझ सके, तब उसकी व्याकुलता और अशांति दूर होने लगती है और उसे ऐसा अनुभव होता है मानो ग्रीष्म ऋतु से व्यथित, श्रान्त, क्लान्त व्यक्ति को शीतल और शांतिदायक वर्षा-ऋतु प्राप्त हो गई। मनुष्यों ने अपनी भिन्न-भिन्न कामनाओं की पूर्ति के लिए तरह-तरह की साधनाएँ निकाली हैं। धन, सन्तान, वैभव, सम्मान, प्रभाव, विद्या, बुद्धि आदि की प्राप्ति के लिये लोग भाँति-भाँति के उपायों का सहारा लेते रहते हैं, जिनसे उनको अपनी योग्यतानुसार कम या अधिक परिमाण में सफलता भी प्राप्त होती है; पर आत्मिक शांति, प्राप्त करने, सांसारिक तापों से छुटकारा पाने का

एक मात्र उपाय यही है कि मनुष्य भिन्न-भिन्न कामनाओं का मोह त्याग कर सच्चे-हृदय से परमात्मा का आश्रय ले और शुद्ध भाव से उसकी स्तुति और प्रार्थना करे। हमें स्मरण रखना चाहिये कि सब प्रकार की कामनाओं को पूरा करने वाला भी वास्तव में भगवान् ही है। इसलिए अगर हम उसकी कृपा प्राप्त करके आत्मिक शांति प्राप्त कर लेंगे तो हमारी अन्य उचित कामनाएँ और आवश्यकताएँ अपने आप पूरी हो जाएँगी।

कितने ही मनुष्य इस विवेचन से यह निष्कर्ष निकालेंगे कि परमात्मा के ध्यान में लीन होने से मनुष्य की कमनाएँ शान्त हो जाएगी, उसमें संसार के प्रति विरक्तता के भाव का उदय हो जाएगा और इस प्रकार वह आत्म-सन्तोष का भाव प्राप्त कर लेगा। इस विचार में कुछ सच्चाई होने पर भी यह ख्याल करना कि परमात्मा की उपासना का साँसारिक कामनाओं की पूर्ति से कोई सम्बन्ध नहीं, ठीक नहीं है। एक अन्य वेद मन्त्र में कहा गया है कि—"**अपमिव प्रवणे यस्य दुर्धरं राधो विश्वायु शवसे अपावतम्।**" भगवान् का धन कभी न रुकने वाला है। वह उसके उपासकों को इस प्रकार प्राप्त होता है जिस प्रकार नीचे की ओर बहता हुआ जल।' वर्तमान समय में भी अनेकों ऐसे व्यक्ति हो चुके हैं जो बहुत साधारण विद्या-बुद्धि के होते हुए भी परमात्मा के भरोसे सुखपूर्वक जीवन व्यतीत करते हैं और जो अपने और दूसरों के बड़े-बड़े कार्यों को सहज में ही पूरा कर लेते हैं। हम अपने प्राचीन ग्रन्थों में सन्तों, तपस्वियों और भक्तों के जिन चमत्कारों का वर्णन पढ़ते हैं उनसे तो यह बात स्पष्ट दिखलाई पड़ती है कि ईश्वर की सच्चे हृदय से उपासना करने वालों को किसी सांसारिक सम्पदा का अभाव नहीं रहता।

मन्त्र में यह भी कहा है कि परमात्मा के उपासक को उसके तेज के भी दर्शन होते हैं। विचार किया जाए तो वास्तव में यही उपासना के सत्य होने की कसौटी है। जो कोई भी एकाग्र चित्त से और तल्लीन होकर परमात्मा का ध्यान करेगा उसे कुछ समय

उपरान्त उसके तेज का अनुभव होना अवश्यम्भावी है। यह तेज ही साधक के अन्तर को प्रकाशित करके उसकी भ्रांतियों को दूर कर देता है और उसे जीवन के सच्चे मार्ग को दिखलाता है। इसी प्रकार से मनुष्य सच्चे ज्ञान का अधिकारी बनता है और सब प्रकार की भव बाधाओं को सहज में पार कर सकने की सामर्थ्य प्राप्त करता है।

ईश्वर उपासना से महान् आध्यात्मिक लाभ

जल में प्रवेश करते ही उसकी उष्णता या शीतलता का तत्काल भान होता है। आग के पास बैठने वाले को उसकी गर्मी मिलना स्वाभाविक है। किसी भी वस्तु की समीपता मनुष्य के जीवन में अपना विशिष्ट प्रभाव अवश्य छोड़ती है। बुरी वस्तु का संग, बुराई पैदा करता है और भली का भलाई। संसार के सभी लोग इसीलिये भले आदमियों और भली वस्तुओं का सान्निध्य-सुख प्राप्त करना चाहते हैं।

ईश्वर-उपासना के सत्परिणाम भी मनुष्य को तुरन्त देखने को मिलते हैं। जो लोग उसके वैज्ञानिक अस्तित्व का ज्ञान नहीं रखते वे भी उस लाभ से वंचित नहीं रहते। दियासलाई जान के जलाई जाए या अनजाने में, उससे आग अवश्य पैदा होगी। उपासना की वैज्ञानिक प्रक्रिया को न समझने वाले भी ईश्वर से प्राप्त होने वाले आध्यात्मिक लाभों द्वारा अपने लौकिक एवं पारलौकिक उद्देश्य प्राप्त कर लेते हैं, इसमें जरा भी सन्देह नहीं है।

ईश्वर एक प्रकार का विज्ञान है और उपासना उसे प्राप्त करने की वैज्ञानिक पद्धति। ईश्वर-उपासना का अर्थ है, ईश्वर के समीप बैठना। जल, अग्नि अथवा वायु की समीपता से जिस तरह मनुष्य तुरन्त उनके गुणों का प्रभाव अनुभव करने लगता है ठीक उसी तरह से परमात्मा का सान्निध्य प्राप्त होते ही जीव का आपा विस्तीर्ण होने लगता है, उसकी शक्तियाँ प्रवीर्ण होने लगती हैं। उस प्रकाश में मनुष्य न केवल अपना मार्ग दर्शन करता है अपितु अनेक

औरों को सन्मार्ग की प्रेरणा देता है। एक ईशाराधक की शक्ति इसीलिये बहुत बड़ी और जाज्वल्यमान समझी जाती है, क्योंकि वह सर्वशक्तिमान् ज्योति में अन्तर्हित होकर स्वयं भी उनका उत्तराधिकार अनुभव करने लगता है। यजुर्वेद में इस सम्बन्ध में प्रकाश डालते हुए कहा गया है—

स पर्यगाच्छुक्रमिकायमव्रणमस्नाविर छशुद्धमपापविद्धम्।
कविर्मनीषी परिभूःस्वयम्भूर्याथातथ्यतोर्थान्—
व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः॥ (यजु० ४०/८)

"जो परमात्मा देव तेजस्वी, निराकार, व्रण रहित, स्नायु जाल से अपरिच्छिन्न, अलौकिक पाप-रहित, कवि, मनीषी, सर्वव्यापी, सर्वशक्तिमान् है, वह हमें भी इन शक्तियों से ओत-प्रोत करें।"

इस मंत्र में परमात्मा की उपासना से प्राप्त होने वाले महान् आध्यात्मिक लाभों को ईश्वरीय गुणों के रूप में दिखाया गया है। यह गुण अग्नि की उष्णता या जल की शीतलता के ही समान है और जो व्यक्ति उनकी जितनी अधिक समीपता में पहुँचता है इन गुणों का उसी अनुपात में उसके जीवन में अविर्भाव होता चला जाता है और अन्त में उसी में लीन होकर जीव-भाव से मुक्त हो जाता है।

परमात्मा को "शुक्रम्" अर्थात् प्रकाश स्वरूप कहा जाता है। प्रकाश-तेजस्विता, निर्दोषिता एवं ज्ञान का प्रतीक है। ईश्वर उपासना से जीवात्मा का उत्थान इसी कक्षा से प्रारम्भ होता है। जब तक मनुष्य अपने जीव भाव में था तब तक वह अज्ञान-ग्रस्त था, उसे संसार की वस्तुस्थिति का कुछ भी ज्ञान न था। थोड़े से क्षणिक सुखों की पूर्ति को ही अपने जीवन का उद्देश्य समझा था और भोग में ही लिप्त था। इस कारण उसका जीवन दोषयुक्त भी था। भोग शारीरिक रोग-शोक पैदा करने वाले होते हैं उनसे इन्द्रियों की क्षमता नष्ट होती है और मनुष्य वृद्धावस्था तथा मृत्यु की ओर अग्रसर होता है। भोगों से जहाँ शारीरिक व्याधियाँ बढ़ती हैं वहाँ मानसिक चिन्ताएँ भी बढ़ती हैं। यह चिन्ताएँ मनुष्य को बन्धनों में बाँधती हैं और दुःखी

करती हैं। पर जैसे ही परमात्मा के शुक्रम् अर्थात् प्रकाश तत्त्व ने उसके जीवन में प्रवेश किया कि वह सांसारिक भोगों की निःसारता अनुभव करने लगता है। अब उसे क्षणिक सुख निरर्थक अनुभव होने लगते हैं और वह दैवी प्रकाश में अपना जीवन लक्ष्य निर्धारित करता है। वह देखता है कि जब मुझे केवल सुख और असीम सुख की चाह है, तो मैं इन क्षुद्र वासनाओं के पीछे क्यों भटकता फिरूँ? ऐसे भी प्रश्न उसके जीवन में उतरते हैं, जिससे संसार के गहन रहस्य और मनुष्य-जीवन की पारलौकिकता की ओर उसके विचार दौड़ने लगते हैं। यह ज्ञान ही परमात्मा का प्रकाश है। इसे ही उसकी कृपा मान सकते हैं। परमात्मा का यह प्रकाश पाये बिना मनुष्य जीवन का उद्धार भी सम्भव नहीं।

प्रकाश जीव के विकास की प्रारम्भिक अवस्था भी है और अन्तिम भी। प्रारम्भ इसलिये है कि जीव की शक्तियों का विस्तार यहीं से प्रारम्भ होता है। इस ज्ञान के उदय के साथ ही मनुष्य के अन्तःकरण में आत्म-ज्ञान की तीव्र आकांक्षा जाग्रत होती है और चूँकि अन्त में जीव उस प्रकाश में ही समाधि लेता है, यह परम लक्ष्य की अन्तिम अवस्था भी है। इसलिये वेद-शास्त्रों में ज्ञान के महत्त्व को सर्वोपरि माना गया है और उसके बिना मनुष्य को पशुवत् बताया गया है।

परमात्मा का दूसरा गुण है—अकायम्। वह निराकार है। उसका शरीर मनुष्यों जैसा नहीं अर्थात् वह मनुष्यों जैसे कार्य नहीं करता। उपासक के अन्तःकरण में यह गुण भी शीघ्र ही चमकता है, अर्थात् परमात्मा का ज्ञान-तत्त्व या प्राण-तत्त्व जब उसने धारण किया, तो उसे सर्वप्रथम यह अनुभव हुआ कि वह अब तक जिस शरीर को ही संसार के सुख और अहंकार की पूर्ति का प्रमुख साधन समझे हुए था या यों कहें कि अब तक वह अपने शरीर को ही जीवन और प्राण समझता था अब उससे उसे विरक्ति होने लगती है। विरक्ति का यह अर्थ नहीं कि वह शारीरिक क्रियाएँ छोड़ देता है

वरन् अब वह इसे साधन या परमात्मा के मन्दिर के रूप में प्रतिष्ठित हुआ देखता है। जो इन्द्रिय लिप्साएँ उसे अब तक परेशान किये हुए थीं अब उसने समझा कि इन शारीरिक विकृतियों में उसे परेशान नहीं होना चाहिये। यह शरीर नाशवान् है, पंच भौतिक है, कभी भी नष्ट हो सकता है। अतः अब इस पर स्वामित्व कर इसका सदुपयोग किया जाना चाहिए।

इन भावनाओं के उदय के साथ ही उसे प्राण-तत्त्व या शरीर में प्रतिष्ठित चेतना का अनुभव हुआ और उसने विचार किया कि अपने अदृश्य शरीर-प्राण-शरीर को प्राप्त करना चाहिये। यह प्राण-शरीर निराकार है जो चिन्तन और विचार द्वारा ही अनुभव किया जा सकता है। सूक्ष्म इन्द्रियाँ ही उसे जान सकती हैं। अतः उसकी मनोवृत्तियाँ अन्तर्मुखी होने लगीं। वह कायिक हितों से परान्मुख होकर अपने निराकार स्वरूप का चिन्तन और उसका रहस्य जानने की इच्छा करने लगा।

परमात्मा अव्रणम् है अर्थात् उसे किसी प्रकार के घाव नहीं लगते। घाव मनुष्य के शरीर में ही लग सकते हैं। शास्त्रकार ने बताया है—"नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः।" अर्थात् आत्मा को शस्त्र छेदन नहीं कर सकते आग उसे जला नहीं सकती। जब तक मनुष्य में शरीर भाव था तब तक सांसारिक ताप और शारीरिक कष्ट उसे अप्रिय लगते थे और हर क्षण इनसे छुटकारा पाने का ही वह प्रयत्न करता था; किन्तु अब उसने अनुभव किया कि शारीरिक लालसाएँ अभी भी ईश्वर प्राप्ति के मार्ग में उसकी बाधक हैं अतः इनका उच्छेदन करना चाहिए। यह तप के अर्थ में हैं। तप को शारीरिक तितिक्षा भी कहते हैं। अर्थात् जान-बूझ कर शरीर को कष्ट देते हैं जिससे आत्मभाव स्पष्ट होने लगे और जीव—भाव से मुक्ति मिलने लगे।

शरीर को कष्ट देने का तात्पर्य यह नहीं है कि उसे शस्त्रों से छेदा या आग से जलाया जाए, वरन् उन तितिक्षाओं को जगाना है

जिससे लौकिक सुखों की कामना मर जाए। नियमित जीवन, स्वच्छता, सफाई, जप, प्राणायाम, उपवास, कृच्छ्र-चान्द्रायण, आदि तप कहे गए हैं इनका उद्देश्य आत्मा को तपाना है और उसे परमात्मा में मिलने के अनुरूप शुद्ध और तेजस्वी बनाना है।

किन्तु मनुष्य की युग-युगान्तरों की दमित वासनाएँ इतनी शीघ्र नष्ट नहीं हो जातीं। शरीर और मन की यह सफाई ठीक ही है जैसी किसी गन्दी नाली में शुद्ध जल डालकर उसकी सफाई की जाती है। सफाई करते समय बहुत दिनों से सतह में जमी हुई गन्दगी की सड़ाँध इतनी तीव्रता से फैलती है कि वह आस-पास वालों का दिमाग बदबू से खराब कर देती हैं। आत्मोत्थान के विभिन्न साधनों द्वारा भी शरीर में वासनाओं और लौकिक कामनाओं की ऐसी सड़ाँध उत्पन्न होती है जो मन को झकझोर कर रख देती है। कुछ क्षण के लिये मन को काबू करना कठिन हो जाता है। इस हलचल की प्रक्रिया को ही अग्नि-दीक्षा या प्राण-दीक्षा के नाम से पुकारा जाता है और उस स्थिति को सम्हालने के लिए किसी योग्य तथा अनुभवी मार्गदर्शक की बड़ी आवश्यकता बताई गई है। परमात्मा का "अस्नाविरम्" गुण इस बात का बोध कराता है कि उपासक परमात्मा की प्राप्ति के लिये जब सन्धान करे, तो वह शरीर की चंचलता को हर तरह से रोके अथवा यह कह सकते हैं कि परमात्मा की ओर अचल भावना से प्रतिष्ठित हुई जीवात्मा शारीरिक चंचलता, इन्द्रियों की भड़कन या मनोविकारों से प्रभावित नहीं होती है।

परमात्मा नित्य शुद्ध है वह अपने उपासक में पाप कैसे देख सकता है। दूध में शुद्ध जल मिल सकता है, गन्दा जल तो उसके स्वरूप को ही बिगाड़ देता है। अग्नि में लोहा डाला जाता है तो वह भी अग्नि वर्ण हो जाता है। परमात्मा अपने भक्त के पापों का इसी प्रकार संहार कर उन्हें नष्ट करता है। परमात्मा अपने भक्त के पापों का इसी प्रकार संहार कर उन्हें नष्ट करता है। यही बात उपासक की ओर से भी होती है। वह अनुभव करता है कि पाप पूर्ण जीवन

बिताकर परमात्मा को पाना सम्भव नहीं, वैसे ही पुराने पापों का फल पाए बिना भी उसकी सिद्धि सम्भव नहीं। इन दोनों स्थितियों में सन्तुलन रखकर वह अपने पापों का धैर्य पूर्वक प्रच्छज्ञलन करता है और परमात्मा में मिल जाने की योग्यता प्राप्त करने में संलग्न रहता है।

विचारों से भावनाओं की शक्ति बड़ी मानी गई है। परमात्मा मनीषी भी है और कवि भी। कविता आत्मा की सर्व व्यापकता की अभिव्यक्ति है। आत्मा जब विकसित होती है तो सारे संसार के सुख-दुःख में वह अपना सुख-दुःख अनुभव करने लगती है। यह गुण ईश्वर के उपासक में भी उसी रूप में जाग्रत होता है। उसमें भी दया, प्रेम, त्याग, उदारता, सद्व्यवहार, सहानुभूति और कष्ट सहिष्णुता जैसी कवि-भावनाएँ जागती हैं। अपने स्वार्थों का परित्याग कर उसे परमार्थ में विशेष आनन्द आने लगता है। संसार में जितने भी संत-भक्त हुये हैं उन्होंने मनुष्य की सेवा को ही परमधर्म बताया है। ऐसा तभी सम्भव हुआ जब परमात्मा की उपासना के फलस्वरूप उनका कवि-गुण-भावनाएँ जाग्रत हुईं। इतिहास प्रसिद्ध घटना है कि बाल्मीकि-अजामिल और सदन जैसे कठोर और दुष्ट प्रकृति के व्यक्तियों ने जब ईश्वर की शरण ग्रहण की, तो वे इतने सदय हृदय हुए कि मानवता की सेवा में ही अपना सर्वस्व अर्पण कर दिया।

विचार और भावनाओं की सर्वोच्चता में पहुँचने पर उपासक भगवान् की "परि-भू" शक्ति का रसास्वादन करता है। ईश्वर सर्वव्यापी है, परिभू है। संसार के कण-कण में उसकी सत्ता समा रही है। पहाड़ नदियाँ, सागर, वृक्ष, वनस्पति, सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र सब उसी के बनाए हुए हैं। सर्वत्र उसी का प्रकाश भर रहा है। कण-कण में, रज-रज में वही खेल रहा है। जल, थल, नभ ऐसा कोई भी स्थान नहीं जो परमात्मा से रिक्त हो। यह विराट् जगत् उसी का स्वरूप है। एक-एक तिनके पर उसकी दृष्टि है, किसी का व्यवहार उससे छुपा हो यह सम्भव नहीं, उसकी आँख से कोई बचकर नहीं जा सकता, कोई भी व्यक्ति बुरी बात करे और वह उसे न सुन ले ऐसा कभी

सम्भव नहीं। उपासक परमात्मा की इस सर्वव्यापकता की अनुभूति प्राप्त कर आनन्द विभोर हो जाता है। वह अपने आपको भी उसी अविनाशी तत्त्व में विलीन हुआ सर्व-व्यापक सत्ता के रूप में देखता है, स्वयं भी सर्वव्यापक हो जाता है।

परमात्मा सर्वशक्तिमान् भी है। उसकी व्यवस्था बड़ी विशाल बड़ी अनोखी है। संसार के सब कर्मों की वह देख-रेख करता है। कर्म का फल भी वही देता है। रक्षा, पालन और विनाश भी वही करता है; पर वह यह सब अलिप्त, निर्विकार भाव से किया करता है। संसार के कल्याण की दृष्टि से ही उसने अपनी शक्तियाँ विकसित की हैं और उनका लाभ भी वह सारे संसार को देता रहता है। ईश्वर का अंचल पकड़ने वाला भी अन्त में परमात्मा की यह महान् विभूति प्राप्त कर अलिप्त निर्विकार और जीवन मुक्त हो जाता है। मनुष्य शरीर में ही वह परमात्मा की सिद्धियों और शक्तियों का रसास्वादन करता हुआ अन्त में उसी सुख-स्वरूप, तेजस्वी, दुःख का नाश करने वाले परमात्मा के दिव्य प्रकाश में विलीन हो जाता है।

जीवन को भव्य बनाने वाली ब्रह्मविद्या

ईश्वर उपासना का प्रभाव मनुष्य के जीवन निर्माण में किस प्रकार होता है इसको समझने के लिये आत्मा के स्वरूप और उसका परमात्मा के साथ क्या सम्बन्ध है यह जानना बहुत जरूरी है। जब मनुष्य अपने आप को शरीर तथा इन्द्रियों से पृथक् देखता है और आत्मिक दृष्टिकोण से समझने का प्रयत्न करता है तो उसकी बुद्धि में एक नये ज्ञान का प्रकाश उत्पन्न होता है। वह समझता है कि ये इन्द्रियाँ, यह शरीर आत्मोत्थान के महत्त्वपूर्ण साधन मात्र हैं अतः इनका सदुपयोग भी करना चाहिए; पर इनके विषयों में आसक्त न होना चाहिए। इस प्रकार की धारणा जब तक पक नहीं जाती तब तक मनुष्य को विचार-विभ्रम होता रहता है; पर जैसे ही इस प्रकार

की निश्चयात्मक बुद्धि बनी कि यह शरीर तो कोई नष्ट हो जाने वाली वस्तु है वहीं मृत्यु का भय छूट जाता है। भय और प्रलोभनों से मुक्त होना अथवा आत्मा के स्ववश होना ही जीवन-मुक्ति है इसी का नाम ब्रह्म-विद्या है।

वेद और उपनिषदों में जो ज्ञान संग्रहीत है उससे मालूम पड़ता है कि ऋषियों ने इसी विद्या के प्रकाश में अनन्त ऐश्वर्यशाली परमात्मा का साक्षात्कार किया। मनुष्य के साथ उस परमात्मा का क्या सम्बन्ध है इसे भी स्थान-स्थान पर प्रकट किया है। परम्परा, प्रतिपादन, पद्धति तथा ज्ञातव्य आदि के भेद से इन वर्णनों में अनेक रूपता तो है; पर उनमें विरोधाभास नहीं है। कुछ अंश तो एक दूसरे के पूरक हैं, कुछ में केवल साधना पद्धति की भिन्नता है, तथापि ब्रह्मविद्या के इन अनेक रूपों के अंतस्तल में स्वरूपगत एकता बनी हुई है। ब्रह्म की शक्ति और उसके जीवन को भव्य बनाने के सम्बन्ध में उनमें कहीं भी मतभेद नहीं है। परमात्मा की उपासना चरित्र निर्माण का अत्यन्त आवश्यक अंग है, यह बात सब स्वीकार करते हैं।

परमात्मा की दिव्य-शक्ति का अवतरण मनुष्य के जीवन में किस प्रकार होता है इस सम्बन्ध में ऋषियों की सैद्धान्तिक मान्यता यह है—

य आत्मदा बलदा यस्य विश्वऽउपासते प्रशिषं यस्य देवाः
यस्यच्छाया अमृतं यस्य मृत्युः कस्मै देवाय हविषा विधेम॥

—यजु० २५/१३

यह परमेश्वर उपासनीय है; क्योंकि उसके चिन्तन से मनुष्य को आत्मा के स्वरूप को समझने में सहायता मिलती है। आत्मज्ञान उसके अन्दर महान् बल पैदा करता है सारे विश्व में उसका महत्त्व आच्छादित है; पर उसे पाते वही हैं जो उसके प्रशासन में रहते हैं अर्थात् उसकी आज्ञाओं का पालन करते हैं।"

ब्रह्मविद्या का सम्पूर्ण गूढ़ तत्त्व इस मंत्र में निचोड़ कर रख दिया है। यह सच बात है कि जब तक लोगों में ऐसा विश्वास या

जिज्ञासा नहीं पैदा होती कि इस विश्व का अन्तिम निर्णायक कोई परमेश्वर है तब तक वे केवल सांसारिक कर्मों में, लौकिक और भौतिक सुखों की उपलब्धि में ही लगे रहते हैं। ईश्वर की बात और उसके अस्तित्व पर विश्वास होते ही भौतिक दृष्टिकोण का एकाएक विराम होता है और उसकी मानसिक चेष्टाएँ अन्तर्मुखी होने लगती हैं। मनुष्य के विचार और अनुभव का क्षेत्र जितना अधिक विकसित होता है उतना ही उसे इन्द्रियों और उसके विषयों की निस्सारता समझ में आने लगती है। जिन कार्यों में लोग प्रमादवश अपनी शक्ति और सामर्थ्य ही गँवाया करते हैं, वह उन्हें रोक कर आत्म-शोधन की साधना में लगाता है। फलस्वरूप उसकी आत्मिक प्रगति होती है और वह अपने सूक्ष्म आध्यात्मिक स्वरूप को भी समझने लगता है।

आत्मा की मान्यता जितनी ही दृढ़ होती जाती है मृत्यु का भय उतना ही दूर हो जाता है, इससे उसके हृदय में बल का संचार होता है; किन्तु इस समय मन की अधोगामी प्रवृत्तियाँ भी चुप नहीं रहती। संसार के दूषित तत्त्व भी उसे अपनी ओर आकर्षित करते हैं। इसलिये कहा है कि इस संघर्ष-काल में जो जाग्रत् पहरेदार की तरह सदैव सावधान रहते हैं और ईश्वरीय आदेशों का पालन करते हैं, ईश्वर की पूर्ण कृपा उसे ही प्राप्त होती है। उसी का जीवन भव्य बनता है।

ईश्वर की आज्ञाएँ क्या हैं, हमारे लिए समझने के लिये यह सबसे कठिन बात नहीं है। आमतौर पर हमारे जीवन की प्रत्येक गतिविधि का संचालन मन करता है और अपना अच्छा बुरा जैसा भी कुछ मन है उसकी बातों को ही ईश्वर की आज्ञाएँ मानकर पूरा किया करता है; किन्तु जब कभी मन कोई बुरा कर्म करता है तो उससे अन्तःकरण में दुःख प्रकट होता है। परमात्मा का आदेश समझने की सीधी कसौटी यही है कि जिन कार्यों से आत्म-हीनता, असंतोष और अशान्ति उत्पन्न होती हो उन्हें न करना और जिनसे दिव्य तत्त्वों की वृद्धि होती हो आत्म-सुख, सन्तोष और शान्ति मिलती हो उनका विकाश करना ही ईश्वर की आज्ञाओं का पालन करना है।

मन की प्रवृत्ति आमतौर पर अधोमुखी होती है इसलिए आत्मा को अपनी बुद्धि और सामर्थ्य का प्रयोग करना चाहिए। मन को बुरे कर्मों से बार-बार हटाने और उसे शुभ कर्मों में लगाए रखने से कुछ दिन में उसकी प्रवृत्ति भी सतोगुणी हो जाती है। पाप करने या बुद्धि का दुरुपयोग करने से ईश्वर की व्यवस्था के अनुसार उसको लज्जित होना पड़ेगा और उसका सिर झुका रहेगा; पर सत्कर्म लौकिक या आत्मिक सभी दृष्टियों से मनुष्य को सुख प्रदान करने वाले ही होते हैं और उनसे अपना आत्माभिमान भी विकसित होता है। शक्तियों और सामर्थ्यों का विकाश भी उसी क्रम से होता है।

यह बात तो सभी चाहते हैं कि हमारे मन में बुरे विचार कभी न आवें। हम सदा शान्ति और आनन्दमय रहें, दुख का भान न हो। इसके लिए लोग प्रयत्न भी करते हैं किन्तु संसार की गति भी कुछ ऐसी है कि मनको आघात पहुँचाने वाली घटनाएँ यहाँ घटती रहती हैं, उन घटनाओं को सहते हुए भी जो मन को वश में रखता है और उसे शुभ संकल्पों से रिक्त नहीं होने देता, ईश्वर की आज्ञाओं का सच्चे मन से वही पालन कर सकता है। जो मन को चञ्चल, अस्थिर या विकारपूर्ण नहीं होने देते वह सच्चे साहसी, वीर और गंभीर होते हैं। इन दैवी सत्प्रवृत्तियों के आधार पर निरन्तर उसे परमात्मा की कृपा प्राप्त होती रहती है और वह आत्म-विकास की साधना में उत्तरोत्तर सफल होता हुआ आगे बढ़ता रहता है।

आत्मा के विकास और ईश्वर की प्राप्ति के लिए केवल दैवी गुण भी चिरकाल तक नहीं टिक सकते, ईश्वर-भक्ति, जप, उपासना आदि आवश्यक हैं; किन्तु जहाँ भक्ति हो वहाँ श्रद्धा, प्रेम, विश्वास, दया, करुणा, उदारता, त्याग सहयोग, सहानुभूति, क्षमा आदि दैवी गुण भी अवश्य होने चाहिए। कर्म चाहे जैसे करो, ईश्वर सब क्षमा करेगा- इस मान्यता ने व्यक्ति और समाज दोनों का बड़ा अहित किया है। ईश्वर को मानने का दावा करने वाले लोग दैवी गुणों की परवाह न करके इस भ्रम में पड़ गए हैं कि गुणों का विकास चाहे हो या न हो ईश्वर भक्ति से

हमारा सब कुछ ठीक हो जाएगा। इस संकीर्ण दृष्टिकोण ने ब्रह्म-विद्या के सच्चे स्वरूप की आस्थाओं को भी नष्ट कर दिया है और बुद्धि प्रधान लोग उसे संदेह की दृष्टि से देखने लगे हैं।

मनुष्य जीवन बड़े सौभाग्य की वस्तु है, उससे भी बड़ा सौभाग्य ईश्वर में विश्वास होना है। कदाचित् लोगों का मन जप-तप और उपासना में लग जाए तो उन्हें अपने ऊपर परमात्मा की कृपा समझनी चाहिए, पर साथ ही अपने दुर्गुणों और दुष्प्रवृत्तियों के निवारण के लिये भी प्रयत्नशील होना आवश्यक है। अपने आसपास सभी प्रकार से ऐसा वातावरण रखना चाहिए जिससे गुणों को विकसित करने वाली सब चीजें हों। इसमें यदि किसी प्रकार की सांसारिक हानि हो, तो उसे भी ईश्वर का आदेश मानकर पूरा करना चाहिए। सद्गुणों के विकास में किया हुआ कोई भी त्याग कभी भी व्यर्थ नहीं जाता।

भारतीय आर्यों ने ईश्वर उपासना को मनुष्य जीवन का अत्यन्त आवश्यक अंग बताया है और प्रकारान्तर से उसकी अनेक सिद्धियों सामर्थ्यों का वर्णन भी किया है। अनेक तरह के साधन और विधानों को भी इसी दृष्टि से निकाला गया है कि हर स्थिति हर अवस्था तथा देश, काल और परिस्थितियों में भी लोग ईश्वर-उपासना के महान् लाभ प्राप्त कर सकें; किन्तु कर्म के क्षेत्र में सबको एक स्थान पर बाँध दिया है। इस जगत में मनुष्य से लेकर छोटे-से छोटे कीटाणु तक जितने भी प्राणी हैं उन सबसे हमारा सम्बन्ध है, उन सबका हमारे ऊपर ऋण है। उन सबके प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष सहयोग से ही हमारा कल्याण हो रहा है अतः उनके प्रति भी हमारा कुछ-न-कुछ कर्त्तव्य है। हम उन्हें भले ही न पहचान सकें पर परमात्मा तो सर्वज्ञ है वह तो यह सब कुछ देख ही रहा है। फिर यदि हम कोई ऐसा कार्य करेंगे जिससे दूसरों को नुकसान होता हो तो वह चाहे जैसा कर्म होगा परमात्मा हमारे ऊपर अप्रसन्न हो जाएगा। इसी स्थिति में उपासना का भी क्या महत्त्व रहेगा जो ईश्वर को प्रसन्न करने के लिए की जाती है।

ब्रह्म-विद्या मनुष्य को ईश्वर उपासना तक ही सीमित नहीं रखती प्रत्युत उसे प्राणि मात्र के प्रति अपने कर्त्तव्यों का उचित रीति से पालन करना भी सिखाती है। अपनी व्यक्तिगत सामर्थ्यों को विकसित करने की शिक्षा देती है। (१) उपासना (२) आत्म-शोधन और (३) परमार्थ इन तीन श्रेणियों में विभक्त होकर जो ईश्वर की आज्ञाओं का पालन करते हैं, ब्रह्म-विद्या उनके जीवन को भव्य बना देती है उन्हें स्वर्ग और मुक्ति का उत्तराधिकार प्रदान करती है।

भगवान् आपके अन्दर सोया है, उसे जगाइये

अजो नित्यःत्शाश्वतोऽयं पुराणः—"मैं अज, नित्य, शाश्वत एवं पुराण हूँ" यह आत्मा की अभिव्यक्ति है। जिसमें किंचित भेदभाव नहीं जो मुक्त है, जिसमें किसी प्रकार का कोई विकार नहीं, अभाव रहित, सदा, सर्वदा, सर्वत्र, सम्पूर्ण एक रस एक रूप हूँ मैं, मेरा कभी परिवर्तन नहीं होता। नाना रूपों में मैं एक ही आत्मा विद्यमान हूँ।

परमात्मा ने ही आत्मा को आच्छादित कर रखा है यह कहें तो अत्युक्ति न होगी। आत्मा में जो भी शक्ति और प्रकाश है वह सब परमात्मा का ही स्वरूप है। परमात्मा मुझसे विलग कहाँ? वह मैं हूँ, मैं वह हूँ, कर्त्तापने की भिन्नता है अन्यथा उसमें और मुझमें अन्तर नहीं। मैं और कुछ नहीं हूँ परमात्मा की उपस्थिति ही मेरे जीवन का कारण बनी है वह मेरे साथ है इसलिये मैं जीवित हूँ। वह चला जाएगा तो मैं भी चला जाऊँगा। मेरा सम्पूर्ण अस्तित्व वह ब्रह्म ही है।

सृष्टि के प्रारम्भ में परमात्मा ने अनेक प्राणियों की रचना की पर सब अपूर्ण, सब अधूरे। किसी की शारीरिक शक्ति बड़ी थी, किसी का सौंदर्य सर्वोपरि था, कोई बोलता मधुर था, किसी को नृत्य कला अच्छी आती थी, कोई अधिक ऊँचाई तक उड़ सकता था, किसी में अधिक दौड़ने की क्षमता थी। प्रवीण सब थे पर किसी

एक ही विषय को लेकर। उपयोगी सब थे पर सर्वांङ्गपूर्णता किसी में न थी। एक-दो गुण मिलते थे और बाकी एक दूसरे से भिन्न किसी में गुण किसी में अवगुण। यह विषमता सम्भवत: उसे रुची न होगी इसलिये उसने अलौकिक देह रचने का निश्चय किया होगा।

वह विलक्षण प्राणी मनुष्य है। इसमें बड़ी सूक्ष्मता और सावधानी से कार्य किया उसने। एक-एक कलपुर्जा कीमती से कीमती बनाया। बड़ी अजब शक्तियाँ पिरोई उनमें। मनुष्य बन कर तैयार हुआ तो सृष्टिकार स्वयं चकरा गया। इस रचना पर उसे सबसे अधिक आश्चर्य हुआ।

सम्पूर्ण देव-शक्तियाँ इसमें प्रविष्ट हुईं। उन्होंने अपने-अपने कार्य प्रारम्भ किए। अग्नि देव जाग्रत् हुए तो भूख लगी, वरुण को जल की जरूरत पड़ी, किसी ने निद्रा माँगी, किसी ने जागृति। सब की अपनी दिशा थी, अपना काम था। इनमें पारस्परिक प्रतिद्वंद्विता न होती रहे और उनका नियन्त्रण बराबर किया जाता रहे; इस दृष्टि से एक जबर्दस्त नियामक सत्ता की आवश्यकता जान पड़ी, तो परमात्मा स्वयं उसमें समा गया। इस तरह इस अद्‌भुत मनुष्य जीवन का प्रादुर्भाव हुआ इस सृष्टि में। सृष्टि के अन्य प्राणियों का सरदार बना मनुष्य तो उसे भी नियंत्रित रखने के लिए उसका भगवान् भी उसके साथ रहने लगा ताकि आवश्यकता पड़ने पर उसकी सहायता भी की जा सकती और उसे दुराचार या अधिकारों के दुरुपयोग से रोका भी जा सके।

तब से अब तक मनुष्य निरन्तर एक प्रयोग के रूप में चलता आ रहा है। कभी वह गलती करता है तो उस अपराध के बदले सजा मिलती है और यदि वह अधिक कर्त्तव्यशील होता है तो उसे अधिक बड़े इनाम और अधिकार दिए जाते हैं। गलती का परिणाम दु:ख और भलाई का परिणाम सुख। सुख और दु:ख का यह अन्तर्द्वन्द्व आदि काल से चलता आ रहा है।

यदि मनुष्य के सम्पूर्ण ऐतिहासिक जीवन पर दृष्टि डालें तो ऐसा प्रतीत होता है कि जितना समय बीतता जाता है उसकी भलाई

की शक्ति मरती जाती है और उसके अन्तर का असुर भाग बलवान् होता जा रहा है। इसके फलस्वरूप उसके दुःखों में भी बढ़ोतरी होती जा रही है। वर्तमान युग इस स्थिति की पराकाष्ठा है यह कहें तो अतिशयोक्ति न होगी। आज लोगों में बड़ी दीनता है, लोग हीन और अभावग्रस्त हैं। मनुष्य झगड़ालू, स्वार्थी और संकीर्ण प्रवृत्ति वाला हो गया है। मनुष्य का यह अधोगामीपन देखकर विश्वास नहीं होता कि उसके अन्दर परमात्मा जैसी महत्त्वपूर्ण शक्ति का निवास हो सकता है। दुर्बल मनुष्य में सर्वशक्तिमान् परमात्मा ओत–प्रोत हो सकता है, इसकी इन दिनों कल्पना भी नहीं की जा सकती।

मनुष्य की दयनीय दशा का एक ही कारण है और वह यह है कि उसके अन्दर का भगवान् मूर्छित हो चुका है अथवा उसने अपनी मनोभूमि इतनी गन्दी बना ली है जहाँ परमात्मा का प्रखर प्रकाश सम्भव नहीं। यदि वह सचेत रहता, उसकी मानसिक शक्तियाँ प्रबुद्ध रहतीं, भलाई की शक्ति जीवित रहती तो वह जिन साधनों को लेकर इस वसुन्धरा पर अवतीर्ण हुआ है वे अचूक ब्रह्म अस्त्र हैं। उनकी शक्ति वज्र से भी प्रबल है। सृष्टि का अन्य कोई भी प्राणी उसका सामना करने को समर्थ नहीं हो सकता। वह युवराज बन कर आया था। विजय, सफलताएँ, उत्तम सुख, शक्ति, शौर्य, साहस उसे उत्तराधिकार में मिले थे। इनसे वह चिरकाल तक सुखी रह सकता था। भ्रम, चिन्ता, शङ्का, सन्देह आदि का कोई स्थान उसके जीवन में नहीं, पर अभागे मनुष्य ने अपनी दुर्व्यवस्था आप उत्पन्न की। अन्तःकरण की, ईश्वरीय सत्ता की उपेक्षा करने के कारण ही उसकी यह दुःखद स्थिति प्रकट हुई। अपने पैरों में कुल्हाड़ी मारने का अपराधी मनुष्य स्वयम् है, इसका दोष परमात्मा को नहीं।

संसार के छोटे कहे जाने वाले प्राणी एक निश्चित प्रकृति लेकर जन्मते हैं और प्रायः अन्त तक उसी स्थिति में बने रहते हैं। इतना स्वार्थी मनुष्य ही था जिसे अपने साधनों से तृप्ति नहीं हुई और उसने दूसरों के स्वत्व का अपहरण करना प्रारम्भ किया। न्यायाधीश बन कर आया था स्वयं अन्याय करने लगा। ऐसी स्थिति में परमात्मा

के अनुदान भला उसका कब तक साथ देते। ईश्वरीय गुणों से पथ-भ्रष्ट मनुष्य की जो दुर्दशा होनी चाहिए थी वही हुई। दुःख की खेती उसने स्वयं बोई और उसका फल भी उसे ही चखना पड़ा।

परमात्मा हमारे अति समीप रह कर प्रेम का सन्देश देता है; पर मनुष्य अपनी वासना से उसे कुचल देता है। वह अपनी सादगी, ताजगी और प्राण शक्ति से हमें सदैव अनुप्राणित रखने का प्रयत्न रखता है, पर मनुष्य आडम्बर, आलस्य और अकर्मण्यता के द्वारा उस शक्ति को छिन्न-भिन्न कर देता है। कालान्तर में जब आन्तरिक-प्रकाश की शक्ति क्षीण पड़ जाती है तो दुःख और द्वन्द्व के बखेड़े बढ़ जाते हैं। तब मनुष्य को औरों की भलाई करना तो दूर अपना ही जीवन भार रूप लगने लगता है। परमात्मा की अन्तःकरण से वियुक्ति ही कष्ट और क्लेश का कारण, बन्धन का कारण है।

मनुष्य बड़ी बुद्धि विवेक और विचार वाला प्राणी है, पर खेद है कि वह अपनी इन शक्तियों का उपयोग लौकिक कामनाओं और इन्द्रिय भोगों तक ही सीमित रखता है। इस अज्ञानान्धकार में ग्रसित मनुष्य को बड़ी शक्तियों का आभास भी नहीं होता इसी लिये वह कोल्हू के बैल की तरह एक सीमित दायरे का ही चक्कर काटता रहता है। उसे इतना भी पता नहीं होता कि हमारे शीश पर बड़ी शक्तियों का हाथ है और उनसे जीवन को सफल बनाने का आशीर्वाद प्राप्त किया जा सकता है।

मनुष्य समाज का एक वर्ग ऐसा है जिसे अपनी गुप्त शक्तियों का आभास भी नहीं होता या वे उन्हें जानना ही नहीं चाहते, यह एक बड़े आश्चर्य की बात है। अपनी दुर्बलताओं का भार लादे हुए जानवरों की तरह जीना ही उन्हें पसन्द होता है। घोड़े, बैल, हाथी या बकरी की पीठ पर अच्छी-अच्छी वस्तुएँ लाद कर एक स्थान से दूसरे स्थान की ओर ले जाते हैं पर बेचारे जानवरों को क्या पता कि उनकी पीठ पर कोई बहुमूल्य वस्तु रखी है। उनके लिये विचार, वाणी या विवेक का उतना ही महत्त्व है, जैसी पीठ पर कीमती सामान रखने वाले घोड़े या हाथी की दशा होती है।

मनुष्य को असीम शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक, नैतिक एवं आत्मिक सम्पदाओं से सुसज्जित कर इस भूतल पर भेजा गया है; पर अपने प्रयोग का ढङ्ग विपरीत हो जाने, उद्देश्य बदल जाने के कारण उन शक्तियों से लाभ तो कुछ मिलता नहीं अशान्ति, भय, घबराहट, चिड़चिड़ापन, अस्थिरता, राग, द्वेष, घृणा, स्वार्थ और ईर्ष्या का वातावरण और तैयार कर लेता है। आत्म-विकास के लिए अपनी क्षमताओं को ईश्वरीय रूप में देखना था और उनका प्रयोग दिव्य तेज और स्फूर्ति की प्राप्ति के लिए किया जाना चाहिये था। ऐसा करने वाले मनुष्य का अपना जीवन सार्थक होता और दूसरों को भी आत्म कल्याण की प्रेरणा मिलती।

आप अपनी मानसिक दुर्बलताओं का विश्लेषण किया कीजिये। देखिये क्या यह कामनाएँ और वासनाएँ अन्त तक आपका साथ देंगी। आप इस पर जितना अधिक विचार करेंगे उतना ही वे तुच्छ प्रतीत होंगी और उनके प्रति आपके जी में घृणा उत्पन्न होगी। मानसिक दुर्बलताएँ रुकेंगी तो आन्तरिक शक्तियों का प्रस्फुरण तीव्र होगा, आपके अंदर का ईश्वरीय अंश बढ़ेगा।

ईश्वर दिव्य है वह आपके अन्दर दिव्यता लाना चाहता है वह सत् है और वैसी ही प्रतिक्रिया आपके अन्दर चलाने की उसकी इच्छा होती है। आपके मन का मैल दूर हो, तो आपका जीवन ईश्वरीय मन मोहकता, दिव्यता का आकर्षण केन्द्र बन जाए और उसकी सुवास से आपका सारा वातावरण महक जाए।

अपने भीतर समाविष्ट अमिट सत्य को पहचानिये, यह सत्य आपको संकीर्णता से मुक्त कर देगा। संसार की बदलती हुई गतिविधियों से, शरीर के नाना प्रकार के रूपों से तब आप दुःखी और विक्षुब्ध न होंगे। आपका जीवन हास्ययुक्त, चहकता और दमकता हुआ रहेगा। मूल बात आत्म-चेतना को पहचानना है जिससे आप मन को तमोगुण से बचा सकते हैं और मनुष्य जीवन को आनन्दमय बना सकते हैं।

वह परमात्मा तेजस्वी, प्रकाशवान् और सम्पूर्ण मानसिक पीड़ाओं को नष्ट करने वाला है। उसे विकसित करने में ही आपका कल्याण है। भगवान् कृष्ण ने कहा है—

यद्यद्विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा।
तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंऽशसम्भवम्॥(गीता १०/४१)

"हे अर्जुन! इस जगत् में जो कुछ भव्य तेजस्वी तथा ऐश्वर्यवान् प्रतीत होता है वह मेरे ही तेज का अंश है। जो अपने अन्दर मुझ दैवी चेतना का अनुभव करते हैं मैं उनके बन्धन काट देता हूँ।"

परमेश्वर के साथ अनन्य एकता का मार्ग

मनुष्य उस परम चेतन परमेश्वर का अंश है। जिस प्रकार जल के प्रपात में पानी के अनेक छींटे उत्पन्न और विलय होते हैं उसी प्रकार विभिन्न प्राणी परमात्मा में से उत्पन्न होकर उसी में लय होते हैं। यह उत्पत्ति एवं लय की लीला इसलिए रची गई है कि इस विश्व में जो प्रेम का अमृत भरा हुआ है उसका जीव रसास्वादन करे और उस आनन्द से परितृप्त होकर अपने को धन्य माने।

किन्तु इस संसार में ऐसे बुद्धिमान् कितने हैं जो इस ईश्वरीय उद्देश्य को चरितार्थ कर पाते हैं। अधिकांश लोग दुर्भाग्य, कष्ट, अभाव, क्लेश एवं उद्वेग की जिन्दगी जीते हैं। इस मानव-जीवन के अनुपम अवसर का सदुपयोग कर लौकिक एवं पारलौकिक भविष्य को उज्ज्वल बनाने की बात बिरला ही कोई सोचते देखा जाता है। जो सोचते हैं वे भी यथार्थ रूप में वैसा कर सकने में असमर्थ ही दीख पड़ते हैं। सब ओर अशान्ति, क्षोभ तथा असन्तोष ही फैला दीखता है। यह सुर-दुर्लभ मानव-जीवन मनुष्य को भार स्वरूप बना हुआ है।

ईश्वरीय मन्तव्य से विपरीत मनुष्य की जीवन गति पर विचार करने से यही बात समझ में आती है कि कहीं पर कोई बड़ी भूल हो रही है। नहीं तो शुद्ध, बुद्ध और आनन्द रूप परमात्मा के अंश मनुष्य के पास शोक-संताप का क्या काम? उसे तो अपने अंशी की तरह शान्त और प्रसन्न होना चाहिए।

मनुष्य की इस दुःखपूर्ण स्थिति की कारणभूत भूल पर विचार करने से यही पता चलता है कि मनुष्य अपने स्वरूप को भूला हुआ है और यही अज्ञान उसको शोक-संतापों के कुछ कंटकों में घसीट रहा है। जीवन का मंतव्य, महत्त्व, मूल्य तथा उपयोग विस्मरण कर देने से उसका मार्ग गलत हो गया है। जिसको यह ही पता न रहे कि मैं क्या हूँ, मेरा कर्त्तव्य और लक्ष्य क्या है, उसका जीवन-पथ ठीक भी कैसे हो सकता है। उसका भटक जाना पथ-भ्रान्त हो जाना स्वाभाविक ही है। मूल्य एवं महत्त्व न जानने वाले के पास यदि रत्नों की पोटली रख दी जाए तो वह उसको मिट्टी मोल ही बरबाद कर देगा।

यों ऊपर से देखने में ऐसा लगता है कि मनुष्य ने बहुत प्रगति की है। वैज्ञानिक विकास और सुख-सुविधा के प्रचुर साधन तथा वैभवपूर्ण रहन-सहन देखकर सहसा विश्वास नहीं होता कि मनुष्य इतना दुःखी और विक्षुब्ध होगा कि उसे जीवन एक असह्य भार-सा अनुभव हो। निःसन्देह भौतिक प्रगति की दृष्टि से यह अभूतपूर्व युग है; किन्तु दुर्भाग्य की बात यह है कि इसने वैयक्तिक, सामाजिक सुख-शान्ति को बढ़ाया नहीं घटाया ही है। यह बाह्य जीवन के साथ-साथ आन्तरिक जीवन का विकास न करने का ही परिणाम है। यह विकास एकाँगी एवम् अपूर्ण है। अपूर्णता दुःखों की मूल मानी गई है। दो पहियों पर चलने वाली गाड़ी को यदि एक पहिये पर घसीटा जाए तो असुविधा और तकलीफें बढ़ेंगी ही। मनुष्य का जीवन बाह्य एवं आन्तरिक दो भागों से मिलकर बना है। यदि दोनों समानान्तर गति पर न रहेंगे तो वांछित सुख-शान्ति के लिए निराश ही रहना होगा। विषमता स्पष्ट है। बाह्य, भौतिक अथवा वैज्ञानिक विकास क्षितिज के छोर छूता हुआ आगे बढ़ रहा है और आन्तरिक, आत्मिक अथवा आध्यात्मिक प्रगति पाताल की ओर गिरती जा रही है। अपेक्षित सुख-शान्ति के लिए इन दोनों गतियों में सन्तुलन एवम् सामंजस्य स्थापित करना होगा। उसका उपाय यह है

कि भौतिक प्रगति के साथ हम सब मनुष्यों को अपना सत्य स्वरूप, जीवन का उद्देश्य तथा उसका मूल्य-महत्त्व फिर समझना होगा और उसी गरिमा के अनुसार अपनी गतिविधि का निर्धारण करना होगा।

मनुष्य की वर्तमान दीन-दशा का उत्तरदायी न तो दुर्दैव है, न युग अथवा काल का प्रभाव और न कोई अन्य परिस्थितियाँ, इसका उत्तरदायी स्वयं मनुष्य ही है। मनुष्य का अपना दृष्टिकोण विकृत हो जाने से जीवन की गतिविधि में अव्यवस्था आ जाना स्वाभाविक ही है। गुण, कर्म, स्वभाव में पतन पूर्ण स्थिति का समावेश हो जाए और परिस्थितियाँ अनुकूल बनी रहें यह सम्भव नहीं। पात्रता के अनुरूप ही प्राप्ति होती है, यह सृष्टि का शाश्वत नियम है। पात्र को पुरस्कार और कुपात्र को दण्ड मिलता ही है। इस संसार में सुख-शान्ति, सन्तोष, प्रेम तथा पवित्रता की सारी दैवी विभूतियाँ सर्वत्र बिखरी पड़ी हैं; किन्तु उनका अधिकारी वह मनुष्य ही हो सकता है जो अपने को उनके योग्य बना सकता है।

यों मनुष्य मूल रूप में तो पात्र ही है, अपात्र अथवा कुपात्र नहीं। अपने स्वरूप का विस्मरण कर देने से ही उसमें अपात्रता का आरोप हो गया है। जिस दिन वह अपने इस सत्य-स्वरूप की प्रतीति कर लेगा कि वह सच्चिदानन्द परमात्मा का अंश है, उसी दिन उसके हृदय के बन्द कपाट खुल जाएँगे, विस्मृति का अन्धकार दूर हो जाएगा। उसके जीवन में दिव्य प्रकाश की किरणें विकीर्ण होने लगेंगी उसके गुण, कर्म, स्वभाव, पात्रता की दिशा में विकसित होने लगेंगे, जितनी-जितनी आत्म स्वरूप की अनुभूति बढ़ती जाएगी परमात्म तत्त्व के साथ ऐक्य की भावना बढ़ती जाएगी।

मनुष्य की यह प्रतीति अनन्त चैतन्य-सत्ता का एक अंश है जो प्राणी-मात्र में पायी जाती है उसकी, अन्य प्राणियों से आत्मीयता स्थापित कर देगी। उसका विरोध, द्वेष तथा स्वार्थ की सारी भावनाएँ नष्ट हो जाएँगी जिनका परिणाम अनन्त प्रेम के रूप में हृदय में भर जाएगा। हृदय की परिपूर्णता सारे सुखों की मूल है। परमात्मा के प्रति

एकता का ज्ञान हो जाने से जीवन में एक दिव्यता आ जाती है और शरीराभिमान छूट जाता है।

शरीराभिमान मिथ्या है। मनुष्य शरीर नहीं आत्मा है, जो अनन्त आनन्द के आगार परमात्मा का शुद्ध अंश है। आत्म-स्वरूप के अज्ञान तथा अपने को शरीर मात्र मानने से सब प्रकार के पापों, दोषों तथा अनुचित व्यवहारों की स्थिति बनती है, स्वार्थ उत्पन्न होता है। यह सारी भावनाएँ मानवीय स्वरूप के प्रतिकूल हैं, अस्वाभाविक एवं अप्राकृतिक हैं। अन्य प्राणियों के प्रति अनात्म अथवा विरोधी भावना रखना ईश्वरीय नियम का उल्लंघन करना है। साधारण सांसारिक तथा सामाजिक नियमों का अतिक्रमण करने से जब समाज की व्यवस्था अस्त-व्यस्त हो जाती है, सङ्कट तथा आपत्तियों के बादल घिरने लगते हैं, तब ईश्वरीय नियम का विरोध कितने बड़े सङ्कट उपस्थित कर देगा इसका अनुमान लगाना कठिन है। क्रोध, द्वेष, निन्दा, कुत्सा आदि की बुराई प्रस्तुत करते रहने से चारों ओर बुराई का ही प्रसार होगा जिसका हानिकारक प्रभाव क्या व्यक्ति और क्या समाज, क्या मन और शरीर सभी पर पड़ेगा। एक ओर से क्रोध होने पर दूसरी ओर से भी क्रोध ही होगा, एक ओर से तलवार उठने पर दूसरी ओर उसी प्रकार की अनुरूप प्रतिक्रिया न हो यह सम्भव नहीं। जो दूसरों के लिये गड्ढा खोदेगा उसके लिए कुँआ तैयार ही रहेगा। यह क्रिया प्रतिक्रियाओं का सहज नियम है जो बदला नहीं जा सकता।

द्वेष-दुर्भाग्य की यह अपरूपता मनुष्य के वास्तविक स्वरूप के अनुरूप नहीं है! उसका स्वरूप तो शुद्ध-बुद्ध तथा निरामय है। वह तो अनन्त-सत्ता का साझीदार है, संसार में उसका प्रतिनिधि है; उसका कृपापात्र है और सृष्टि में भरे प्रेम रस का आस्वादन करने के लिये भेजा गया है। आनन्द तथा शान्ति का अधिकारी बनाया गया है। उसके लिये यही शोभनीय है कि वह अपने सत्य स्वरूप का स्मरण करे और उसी के अनुरूप स्थिति प्राप्त करे। इस प्रकार

शोक-संतापों अथवा द्वेष-दुर्भावों के कल्मष में पड़ा रहना उसके लिये लज्जा की बात है।

स्वार्थ ही सारे पाप-संतापों की जड़ है। स्वार्थी को अपने अतिरिक्त कोई दूसरा दीखता ही नहीं। उसका लोभ, उसकी तृष्णा इतनी विकराल होती है कि संसार का सारा सुख, वैभव पाकर भी संतुष्ट नहीं होती। दूसरों की उन्नति और उपलब्धियाँ उससे देखी नहीं जातीं। उसकी यही इच्छा और यही प्रयास रहता है कि संसार में जो कुछ है वह सब उसे ही मिल जाए, किसी दूसरे को उसका एक अंश भी न मिले। वह संसार के सारे प्राणियों के प्रति निर्दय तथा अनुदार हो जाता है। उसे सब ओर अपने लोभ के अतिरिक्त और कुछ दिखलाई ही नहीं देता।

मनुष्य अपने सत्य स्वरूप की प्रतीति करे और निश्चय करे कि परमात्मतत्त्व के साथ उसकी एकता है। वही परमात्मतत्त्व जिस प्रकार हमारे भीतर से होकर बह रहा है उसी प्रकार प्रत्येक प्राणी के अन्तर में प्रवाहित है। उस अनन्त चैतन्य से ओत-प्रोत सारे चेतन सजातीय हैं, उनके मूल रूप में कोई भेद नहीं है। ऐसा निश्चय हो जाने पर उसका अन्य भेद मिट जाएगा। सबके प्रति बन्धुत्व अनुभव होने लगेगा और तब वह दूसरों के लिये अपने स्वार्थ का त्याग करने में सुख मानेगा, और उनकी सेवा करना अपना कर्त्तव्य। दूसरों का सुख-दुःख उसका अपना बन जाएगा। ऐसी दशा में वह किसी को कष्ट देकर स्वयं क्यों दुखी होना चाहेगा! स्वार्थ का नाम दूर होते ही उसके जीवन से सूनापन, नीरसता, सङ्कीर्णता आदि कष्टप्रद अनुभव दूर हो जाएँगे और वह अपनी आत्मा में सरसता, व्यापकता तथा एक अनिर्वचनीय आनन्द की अनुभूति पाने लगेगा। उसको संसार के समस्त प्राणियों से अक्षय प्रेम का सम्बन्ध स्थापित करना उचित तथा आवश्यक लगेगा।

ज्यों-त्यों मनुष्य इस सत्य का साक्षात्कार करता जाएगा कि जो परमात्म-सत्ता विश्व का मूल है हम सब उसके ही अंश कलाएँ

हैं और प्रत्येक प्राणी के साथ सबकी एकता है, किसी में किसी प्रकार का भेद नहीं है त्यों-त्यों उसका हृदय विश्व प्रेम से परिपूर्ण होता जाएगा और उसके स्वार्थ की संकीर्ण सीमाएँ खण्ड-खण्ड होती जाएँगी। मनुष्य के भीतर रहने वाला सब प्रकार का द्वेष और किसी के प्रति दूषित विचार दूर हो जाएँगे। उसका अन्तःकरण दर्पण की तरह निर्मल होकर प्रसन्न हो उठेगा। जो भी उसके सामने आएगा उसमें वह अपनी आत्मा का ही दर्शन करेगा। उसे चारों ओर अपनत्व दिखाई देगा। ऐसी शुभ-स्थिति में फिर कष्ट, क्लेशों अथवा शोक-संतापों को कोई अवसर ही नहीं रह जाता।

संसार के शोक-संतापों से मुक्ति पाने के लिये मनुष्य को अपने स्वार्थ तथा सङ्कीर्ण सीमाओं को तोड़ कर अपने विशाल तथा विराट् स्वरूप की ओर अग्रसर होना ही चाहिये। हृदय में छिपे अनन्त प्रेम के भंडार को खोल देना चाहिये और अपने आत्मभाव का प्रसार करना चाहिये। यह आत्म-भाव जितना-जितना विस्तृत होता जाएगा हम उतना-उतना ईश्वर के निकट पहुँचते जाएगे और जितना-जितना ईश्वर के समीप बढ़ते जाएँगे आत्मसाक्षात्कार की अनुभूति होती जाएगी प्रेम ही सारे सुखों का सार है। वही ईश्वर का सच्चा स्वरूप और आत्मा की भौतिक अनुभूति है! जैसे-जैसे हम अपने सत्य स्वरूप की प्रतीति करते जाएँगे वैसे-वैसे वह परमात्म-स्वरूप प्रेम हमारे मन, बुद्धि, आत्मा तथा कर्मों में अधिकाधिक प्रकट होता जाएगा। हमारे अन्तःकरण को ओत-प्रोत कर जब वह अमृत संसार में चारों ओर बिखरने लगेगा, सब ओर सुख-शान्ति की परिस्थितियाँ निर्मित होने लगेंगी और यह संसार जो आज कुछ कुश-कंटकों से भरा मालूम होता है, सुरभित वाटिका के समान सुखदायक हो जाएगा और हमारा यह जीवन जो आज भार स्वरूप अनुभव होता है आनन्दों का केन्द्र बन जाएगा।

मनुष्य आनन्द स्वरूप है कष्ट, क्लेशों से इसका कोई सम्बन्ध नहीं है। दुःखों का मुख्य कारण आत्म विस्मरण ही है! अपने सत्य

स्वरूप का बार-बार स्मरण करिये और इस सत्य का निरन्तर मनन करते रहिये—"अनन्त चैतन्य, निरामय, तत्त्व स्वरूप परमात्मा तथा मेरे जीवन में एकता है। वह परमात्मा ही मेरे जीवन का जीवन है। मैं उसी की तरह चैतन्य स्वरूप हूँ, मेरी प्रकृति दिव्य है उसमें किसी विकार के लिये स्थान नहीं है। जो रोग-शोक तथा कष्ट, क्लेश अनुभव होते हैं वह सब देहाभिमान के कारण ही। यह अभिमान ही दूषित है जिसे मैं त्याग रहा हूँ और अपने हृदय का द्वार उस अनन्त सत्ता की ओर खोलता हूँ जिससे उसकी प्रेमधारा मेरे जीवन में भरकर छलक उठे। सारे प्राणी, सारे जीव मेरे अपने बन्धु हैं। मेरा प्रेम उन सबको प्राप्त हो और सभी उसी प्रकार सुखी, निःस्वार्थी तथा निरामय बन जाएँ जिस प्रकार मैं बन रहा हूँ," इससे आपको आत्म साक्षात्कार होगा, आपको अपना सत्य स्वरूप स्मरण होगा और तभी आप जीवन में क्षण-क्षण पर उस आनन्द का अनुभव करने लगेंगे जो वांछनीय है और जीवन का परम लक्ष्य!

परमात्म सत्ता से सम्बद्ध होने का माध्यम

जो मनुष्य अपने वास्तविक स्वरूप को समझ लेता है, उसका सम्बन्ध परमात्म-तत्त्व से स्पष्ट और प्रकट हो जाता है, जिसकी अभिव्यक्ति उच्च-शक्तियों के रूप में होकर संसार को प्रभावित करने लगती है और लोग उस व्यक्ति को अवतार, पैगम्बर, ऋषि, योगी आदि मान कर पूजने और मनन करने लगते हैं। वह एक दिव्य पुरुष बन जाता है।

परमात्म-तत्त्व वह अनन्त-जीवन, वह सर्व-व्यापी चैतन्य और वह सर्वोपरि सत्ता है। जो इस जगत् के पीछे अदृश्य रूप से काम करती, इसका नियमन और नियन्त्रण करती है और जिससे दृश्यमान् जीवन आता है और सदा-सर्वदा आता रहेगा। इसी अनन्त, असीम और अनादि ज्ञान और शक्ति के भण्डार से सम्बन्ध स्थापित हो जाने से साधारण मनुष्य असाधारण बन कर अपने वास्तविक स्वरूप का ज्ञाता हो जाता है।

अणु-अणु का मूलाधार वह परमात्म-तत्त्व ही है। सब कुछ उसी से बनता और उसी चेतन-शक्ति से गतिशील होता है। आकार-प्रकार में भिन्न दीखते हुए भी प्रत्येक पदार्थ एवं प्राणी एक उसी तत्त्व के अंश हैं। जिस प्रकार समुद्र से उठाया हुआ एक जल-बिन्दु भिन्न दीखता हुआ भी मूलतः उसी का संक्षिप्त स्वरूप होता है और समुद्र की सारी विशेषताएँ उसमें होती हैं, उसी प्रकार व्यक्तिगत जीवन और समष्टिगत जीवन सीमित और असीमित के मिथ्या भेद के साथ तत्त्वतः एक ही है। जो जीवात्मा है वही परमात्मा और जो परमात्मा है वही जीवात्मा। इस सत्य को जान लेना ही आत्म-ज्ञान कहा गया है। जिन-जिन महापुरुषों ने आत्म-प्रकाश की प्राप्ति कर ली है, उन्होंने अपना अनुभव प्रकट करते हुए, इस सत्य की इस प्रकार पुष्टि की है कि हम अपना जीवन परमात्म-तत्त्व से एक दिव्य प्रवाह के रूप में पाते हैं अथवा हमारे जीवन का उस परमात्म-तत्त्व से ऐक्य है। हममें और परमात्मा में कोई भेद नहीं है। हम और हमारा ईश्वर एक सत्य के ही दो नाम और दो रूप हैं। यही ज्ञान अथवा अनुभव आत्मानुभूति, आत्म-प्रतीति अथवा आत्म-ज्ञान के अर्थ में मानी गई है।

प्रतीति के साथ शक्ति का अटूट सम्बन्ध है। जिसे अपने प्रति सर्वशक्तिमान् की प्रतीति होती है, वह सर्वशक्तिमान् और जिसको अपने प्रति निर्बलता की प्रतीति होती है वह निर्बल बन जाता है और उसी के अनुसार उसका जीवन व्यक्त अथवा प्रकट होता है। अपने प्रति इस प्रतीति की स्थापना करने का प्रयास ही आत्मज्ञान की ओर अग्रसर होना है। जिसका उपाय आत्म-चिन्तन के सिवाय क्या हो सकता है? जब यह चिन्तन अभ्यास पाते-पाते अविचल, असंदिग्ध, अतर्क और अविकल्प हो जाता है, तभी मनुष्य में आत्म-ज्ञान का दिव्य प्रकाश आपसे-आप विकीर्ण हो जाता है, दिव्य-शक्तियाँ स्वयं आकर उसका वरण करने लगती और वह साधारण-से-असाधारण, सामान्य-से-दिव्य और व्यष्टि-से-समष्टि रूप होकर संसार के लिए आश्चर्य, योगी, अवतार अथवा सिद्ध रूप हो जाता है।

आत्म-ज्ञान ही मनुष्य का सर्वोच्च लक्ष्य है। जिसने इस लक्ष्य की ओर ध्यान नहीं दिया, भौतिक विभूतियों के लोभ में इसकी उपेक्षा कर दी, उसने मानो मानव-जीवन का सारा मूल्य गँवा दिया। जो अवसर परमात्मा से सम्बन्ध स्थापित करने और उससे बहने वाले दिव्य प्रकाश को ग्रहण करने की योग्यता उपार्जित करने के लिये मिला था, उसे अज्ञान के अन्धकार में अटकते-भटकते रह कर खो दिया। यह भूल मनुष्य जैसे विवेकशील प्राणी के लिये अनुचित और अवांछनीय है। इस अविवेक को त्यागकर हर भटके हुए व्यक्ति को शीघ्र-से-शीघ्र सत्य-मार्ग पर आ ही जाना चाहिये।

जीवन का प्रत्येक क्षण अमूल्य और अलभ्य है, एक बार बीत जाने पर दुबारा नहीं मिलता। इसलिये भूल सुधारने में जितनी शीघ्रता की जाएगी, उतना ही हितकर होगा। मनुष्य की महत्ता इस एक जीवन में ही अपना सर्वोच्च लक्ष्य प्राप्त कर लेने की है। नहीं तो इतना तो कर ही लेना बुद्धिमानी है कि जो जीवन शेष है, अभी अपने अधिकार में है, उसको सत्य पथ पर नियोजित कर जितना जो कुछ बढ़ा जा सके बढ़ चला जाए। इस अपेक्षित अभियान का तारतम्य आगामी जीवन में बना रहेगा और तब वह उसी निर्धारित सत्य मार्ग पर प्रारम्भ से ही चल पड़ेगा।

प्रायः लोगों में यह भ्रान्त धारणा काम करती है कि शरीर छूट जाने के बाद उसके साथ जुड़ी हुई हर बात यहीं छूट जाती है; किन्तु सत्य इससे सर्वथा भिन्न है। शरीर छूट जाने पर भी जीवन का अन्त नहीं होता। जीवन तो एक अनन्त एवं अविच्छिन्न प्रवाह है, जो सदा-सर्वदा एक तारतम्यता के साथ प्रवाहित होता रहता है। जीवन अमर है इसका कभी नाश नहीं होता, जीवात्मा इस स्थूल लोक को त्याग कर इसके पश्चात् आने वाले लोक के नये आकार में जीवन-क्रम को पूर्ववत् चालू रखता है। जीवात्मा का परमात्मा की ओर अग्रसर होने का यही विधान है। वह कूद कर अथवा छलांग लगा कर पूरे पथ को पार नहीं करता, वरन् क्रम-क्रम से सोपान-अनुसोपान

पर पैर रखता हुआ ऊपर चढ़ता है। एक जीवन की सारी बातें दूसरे जीवन में उसके साथ यथावत् सूक्ष्म संस्कारों के रूप में जाती हैं और अपनी गतिविधियाँ निर्धारित करती हैं। इसलिये यह सोचना कि अब तो जीवन का बहुत भाग बेकार चला गया है, अब हो भी क्या सकता है ठीक नहीं। शेष जीवन में जो सत्प्रयास प्रारम्भ कर दिया जाएगा वह भी अपने पूरे परिमाण के साथ आगामी जीवन का प्रारम्भ बनेगा।

हमारा वर्तमान जीवन, वर्तमान की ही वस्तु है, ऐसा मानना समीचीन नहीं। हमारा जीवन पहले भी था और आगे भी रहेगा। जीवन का वास्तविक अस्तित्व अदृश्य जगत् में ही रहता है। यही नहीं संसार की प्रत्येक वस्तु, प्रत्येक पदार्थ, जिसे हम देख रहे हैं, देख चुके हैं अथवा आगे देखेंगे, वह आज ही उत्पन्न नहीं हुई है। उसका अस्तित्व पहले से ही सूक्ष्म अथवा अदृश्य जगत् में वर्तमान था। मनुष्य का प्रत्यक्ष जीवन स्थूल-लोक से प्रारम्भ होता दीखता अवश्य है; किन्तु वह वस्तुतः पहले से ही चला आता होता है। यह स्थूल शरीर जिसके छूट जाने को हम जीवन का अन्त मान लेते हैं, वास्तविक शरीर जिसे सूक्ष्म शरीर कहते हैं, का ऊपरी आवरण अथवा कलेवर मात्र है।

यह जो कुछ क्रिया-कलाप करता दीखता है वह उस सूक्ष्म शरीर की ही क्रिया होती है, जो इसके आधार पर प्रकट हुआ करती है। अपने इसी कलेवर के भीतर वह वास्तविक और शाश्वत सूक्ष्म शरीर वृद्धि करता हुआ पूर्णता को प्राप्त होता रहता है। जिस प्रकार छिलके के भीतर अनाज का दाना धीरे-धीरे विकसित होकर पकता रहता है और जब वह पूरी तरह पक जाता है तो बाहर निकल जाता है, जिससे ऊपर का छिलका बेकाम हो जाता है। उसी प्रकार सूक्ष्म शरीर के पूर्ण विकसित हो जाने पर अथवा परमात्म-तत्त्व को आत्मसात् कर लेने पर स्थूल शरीर बेकार और व्यर्थ हो गिर जाता है। अन्तर केवल इतना है कि अन्न का दाना अपने एक ही आवरण में पूरी तरह पक जाता है और सूक्ष्म शरीर अथवा जीवात्मा को पूर्ण

विकास पाने के लिये अनेक बार स्थूल शरीर का कलेवर धारण करना पड़ता है, और जिस दिन वह आत्म प्रतीति की स्थिति में पहुँच जाता है, उसके बाद उसे फिर शरीर धारण करने की आवश्यकता नहीं रहती, वह अपने अनादि एवं अनन्त जीवन प्रवाह में स्रोत की तरह मिल कर तद्रूप हो जाता है।

यदि वास्तविक दृष्टि से विचार किया जाए, तो पता चलेगा कि हमारा जीवन स्थूल शरीर नहीं, सूक्ष्म शरीर ही है। हम जो कुछ करते हैं, उसी रूप में करते हैं और जो कुछ आगे करेंगे उसी रूप में। हमारा यह बाह्याकार कितना ही बदलता रहे; किन्तु उसमें रहने वाला जीवात्मा कभी नहीं बदलता। हमारा जीवन अपरिवर्तनशील और अमर है और यही रहस्य संसार का सबसे बड़ा सत्य है।

हमारा यह वास्तविक जीवन अथवा सूक्ष्म स्वरूप क्या है? इस प्रश्न का उत्तर होगा 'विचार'। विचार अपने में मूर्तिमान् होते हुए भी सूक्ष्म सत्ता होने के कारण कभी स्पष्ट दिखलाई नहीं देते। उनकी मूर्तिसत्ता कार्यों के रूप में ही प्रकट होकर सामने आती है। हमारे आस-पास की दुनिया में दिखलाई देने वाली हर वस्तु का सर्व-प्रथम स्रोत-विचार ही होता है। कोई भी वस्तु अथवा पदार्थ सर्वप्रथम विचार रूप में जन्म लेकर ही स्थूल रूप में प्रकट होता है। हम स्वयं अपना जन्म विचारों में ही धारण करते हैं। उन्हीं में पलते-बढ़ते और व्यक्त होते हैं। हम जीवन रूप में विचार स्वरूप ही हैं। हम आज जो कुछ दिखलाई दे रहे हैं अथवा आगे दिखलाई देंगे, वह हमारे विचारों के सिवाय और कुछ न होगा। अपने जीवन को सत्य पथ पर नियोजित करने का अर्थ विचारों को उस दिशा में उन्मुख करने के सिवाय और कुछ भी नहीं है।

विचार ही मनुष्य का वास्तविक स्वरूप है उसे केवल कोरी कल्पना अथवा हवाई उड़ान मान कर महत्त्व न देने वाले अपने सत्यस्वरूप की ओर से आँख बन्द कर लेते हैं। शाश्वत शक्ति से सम्बन्धित होने से विचारों को संसार की वास्तविक, प्रबल, सूक्ष्म

और महान् शक्ति माना गया है। विचारों के कारण ही मनुष्य उत्कृष्ट अथवा निकृष्ट बनता है।

समानता वाले दो पदार्थ एक दूसरे को अनायास ही अपनी ओर आकर्षित करते हैं। सृष्टि का यह नियम स्थायी और शाश्वत है। हम अपने जीवन के अनुकूल विचारों और शक्तियों को अदृश्य जगत् से आकर्षित करते और स्वयं भी उनकी ओर खिंचते रहते हैं। हमारे विचार जितने सत्य और सत् होंगे, हम सत्य और सत् तत्त्वों को अपनी ओर उतना ही आकर्षित करेंगे और स्वयं भी उनकी ओर आकर्षित होंगे। इसके विपरीत असत्य एवं असद् विचारों के कारण हम अवांछनीय तत्त्वों को आकर्षित करते और उनकी ओर बढ़ते जाते हैं। आत्म-विकास अथवा आत्म-निर्माण का दूसरा नाम विचार निर्माण ही है।

हम जितने ही कुशल विचार-शिल्पी होंगे, हमारी आत्मा का निर्माण उतना ही सुन्दर और स्थायी होगा। अपनी आत्मा का साक्षात्कार भी हम विचारों के द्वारा ही कर सकते हैं। विचारों के आदर्श में ही आत्मा का रूप प्रतिबिम्बित होता है और विचार चक्षुओं से ही उसके दर्शन किये जा सकते हैं। विचार जितने उज्ज्वल और पवित्र होंगे, आत्मा का प्रतिबिम्ब उतना ही स्वच्छ और स्पष्ट दृष्टिगोचर होगा।

आत्म-चिन्तन जिसे आत्म-ज्ञान का उपाय माना गया है, अपने प्रति विचार करना ही तो है। विचार-शक्ति के द्वारा ही हम अपने प्रति किसी स्थायी प्रतीति का सृजन कर सकते हैं। विचार ही वह माध्यम है जो आत्मा और परमात्मा के बीच सम्बन्ध-सूत्र की भूमिका पूरी किया करते हैं। अपने विचारों को विचार द्वारा देखिये और पता लगाइये कि आप किस स्थिति में हैं। आपका जीवन-यान ठीक उस पथ पर अग्रसर हो रहा है या नहीं जो परमात्म-तत्त्व की प्राप्ति के सर्वोच्च लक्ष्य की ओर जाता है। यदि ऐसा है तो निरन्तर चलते जाइये और यदि कोई त्रुटि है तो रुकिये और अपने जीवन यान का दृष्टिकोण बदल कर ठीक दिशा में नियोजित कर लीजिये।

मनुष्य का सर्वोच्च लक्ष्य परमात्म-तत्त्व से स्थायी सम्बन्ध स्थापित करना है और मनुष्य उस परम-प्रवाह की एक अविच्छिन्न तरङ्ग है यह प्रतीति प्राप्त कर लेना ही आत्म-ज्ञान माना गया है। इसका एकमात्र उपाय आत्मचिन्तन है, जिसे विचार-क्रिया भी कह सकते हैं। इस प्रकार यदि हम इस विचार का अभ्यास करते हुए लगातार आगे बढ़ते रहें कि—"हम स्थूल नहीं सूक्ष्म जीवन हैं, जो अजर और अमर है, जिसका सीधा सम्बन्ध उस परमात्म-तत्त्व से ही रहता है; किन्तु अज्ञान का अन्धकार उस सत्य का अनुभव नहीं होने देता। इसलिये अब हम उस अन्धकार से निकल कर प्रकाश में आ गये हैं। हमारी यह प्रतीति निरन्तर बढ़ती जाती है कि हम बिन्दु रूप में सिन्धु और आत्मा के रूप में परमात्मा ही हैं, तो कोई कारण नहीं कि हम शीघ्र ही अपने सर्वोच्च लक्ष्य को प्राप्त न कर लें।"

ऐसा विचार-आत्मा से ग्रहण करते ही वह सर्व-व्यापक परमात्म-तत्त्व, वह अनन्त जीवन हमारी ओर आकर्षित होता हुआ हमारे जीवन में और हमारा जीवन बढ़ता हुआ उसमें मिलने लगेगा और तब हमारे बीच के सारे व्यवधान और अवरोध व्यर्थ हो जायेंगे, फिर चाहे वह देहाभिमान हो अथवा मोहान्धकार।

उपासना आवश्यक है और अनिवार्य भी

परमात्मा के जितने ही समीप हम पहुँचते हैं उतनी ही श्रेष्ठताएँ हमारे अन्तःकरण में उपजती तथा बढ़ती हैं। उसी अनुपात से आन्तरिक शान्ति की भी उपलब्धि होती चलती है।

हिमालय की ठण्डी हवाएँ उन लोगों को अधिक शीतलता प्रदान करती हैं जो उस क्षेत्र में रहते हैं। इसी प्रकार आग की भट्टियों के समीप काम करने वालों को गर्मी अधिक अनुभव होती है। जीव ज्यों-ज्यों परमात्मा के निकट पहुँचता जाता है, त्यों-त्यों उसे उन विभूतियों का अपने में अनुभव होने लगता है जो उस परम प्रभु में ओत-प्रोत हैं।

उपासना का अर्थ है-पास बैठना। परमात्मा के पास बैठने से ही ईश्वर की उपासना हो सकती है। साधारण वस्तुएँ तक अपनी विशेषताओं की छाप दूसरों पर छोड़ती हैं, तो परमात्मा के समीप बैठने वालों पर उन दैवी विशेषताओं का प्रभाव क्यों नहीं पड़ेगा?

पुष्प वाटिका में जाते ही फूलों की सुगन्ध से चित्त प्रसन्न होता है। चन्दन के वृक्ष अपने समीपवर्ती वृक्षों को सुगन्धित बनाते हैं। सज्जनों के सत्सङ्ग से साधारण व्यक्तियों की मनोभावनाएँ सुधरती हैं, फिर परमात्मा अपनी महत्ता की छाप उन लोगों पर क्यों न छोड़ेगा जो उसकी समीपता के लिए प्रयत्नशील रहते हैं।

आत्मा के परमात्मा के निकट पहुँचने पर वही बात बनती है जो गरम लोहे और ठण्डे लोहे के एक साथ बाँधने पर होती है। गरम लोहे की गर्मी ठण्डे में जाने लगती है और थोड़ी देर में दोनों का तापमान एक सरीखा हो जाता है। दो तालाब जब तक अलग-अलग रहते हैं तब तक उनके पानी का स्तर नीचा-ऊँचा बना रहता है, पर जब बीच में नाली निकालकर उन दोनों को आपस में सम्बन्धित कर दिया जाता है, तो अधिक भरे हुए तालाब का पानी दूसरे-कम पानी वाले तालाब में चलने लगता है और यह प्रक्रिया तब तक जारी रहती है जब तक कि दोनों का जल स्तर समान नहीं हो जाता।

दो जलाशयों का मिलना या गरम-ठण्डे लोहे का परस्पर मिलना जिस प्रकार एकरूपता की स्थिति उत्पन्न करता है उसी प्रकार उपासना द्वारा आत्मा और परमात्मा का मिलन होने पर जीव में दैवी गुणों की तीव्रगति से अभिवृद्धि होने लगती है।

किसी व्यक्ति की उपासना सच्ची है या झूठी है उसकी एक ही परीक्षा है कि साधक की अन्तरात्मा में सन्तोष, प्रफुल्लता, आशा, विश्वास और सद्भावना का कितनी मात्रा में अवतरण हुआ। यदि यह गुण नहीं आए हैं और हीन वृत्तियाँ उसे घेरे हुए हैं, तो समझना चाहिये कि यह व्यक्ति पूजा-पाठ कितना ही करता हो उपासना से अभी दूर ही है।

पूजा-पाठ अलग बात है, उपासना अलग। उपासना के लिये पूजा पाठ से कर्मकाण्ड की चिह्नपूजा करते रहने मात्र से उपासना का उद्देश्य प्राप्त नहीं हो सकता। जीव को जीवन धारण करने के लिये शरीर की आवश्यकता होती है; पर शरीर ही जीवन नहीं है। जीव विहीन शरीर देखा तो जा सकता है पर उसका कोई लाभ नहीं। इसी प्रकार उपासना विहीन पूजा भी होती तो है पर उससे कुछ प्रयोजन सिद्ध नहीं होता।

आत्मा जब परमात्मा की गोदी में बैठता है तो उसे प्रभु की सहज करुणा और अनुकम्पा का लाभ मिलता है। उसे तुरन्त ही निर्भयता और निश्चिन्तता की प्राप्ति होती है। हानि, घाटा, रोग, शोक, बिछोह, चिन्ता, असफलता और विरोध की विपन्न स्थितियों में भी उसे विचलित होने की आवश्यकता नहीं पड़ती। उसे इन प्रतिकूलताओं में भी अपने हित-साधन का कोई विधान छिपा दिखाई पड़ता है। वस्तुतः विपन्नता हमारी त्रुटियों का शोधन करने और पुरुषार्थ को बढ़ाने के लिए ही आती हैं। आलस्य और प्रमाद को, अहंकार और मत्सर को मनोभूमि को हटाना ही प्रतिकूलताओं का उद्देश्य होता है। सच्चे आस्तिक को अपने प्रिय परमेश्वर पर सच्ची आस्था होती है और वह अनुकूलताओं की तरह प्रतिकूलताओं का भी खुले हृदय से स्वागत करता है।

माता मधुर मिष्ठान्न भी खिलाती है और आवश्यकता पड़ने पर कड़ुई दवा भी खिलाती है। दुलार से गोदी में भी उठाए फिरती है और जब आवश्यकता समझती है डाक्टर के पास सुई लगवाने या आपरेशन कराने के लिए भी ले जाती है। माता की प्रत्येक क्रिया बालक के कल्याण के लिए ही होती है, परमात्मा की ममता जीवन के प्रति माता से भी अधिक है। प्रतिकूलताएँ प्रस्तुत करने में उसकी उपेक्षा या निष्ठुरता नहीं, हितकामना ही छिपी रहती है।

अपनी कठिनाइयों को हल करने मात्र के लिए, अपनी सुविधाएँ बढ़ाने की लालसा मात्र से जो प्रार्थना पूजा करते हैं वे

उपासना के तत्त्वज्ञान से अभी बहुत पीछे हैं। उन्हें उन बालकों में गिना जाना चाहिये जो प्रसाद के लालच से मन्दिर जाया करते हैं। ऐसे बच्चे वह आनन्द कहाँ पाते हैं जो भक्तिरस में निमग्न एक भावनाशील आस्तिक को प्रभु के सम्मुख हृदय खोलने और मस्तक झुकाने में आता है। प्रभु के चरणों पर अपनी अन्तरात्मा को अर्पण करने वाले भावविभोर भक्त और प्रसाद की मिठाई लेने के उद्देश्य में खड़े हुए भिखमंगे में जो अन्तर होता है वही सच्चे और झूठे उपासकों में होता है। एक का उद्देश्य परमार्थ है दूसरे का स्वार्थ। स्वार्थी को कहीं भी सम्मान नहीं मिलता। परमात्मा की दृष्टि में भी ऐसे लोगों का क्या कुछ मूल्य होगा?

लुहार अपनी दुकान पर लोहे के टुकड़ों से तरह-तरह की चीजें बनाता रहता है। उन टुकड़ों को वह कभी गरम करने के लिये भट्टी में तपाता है कभी पानी में डालकर ठण्डा कर लेता है। इस विसंगति को देखकर कोई भोला मनुष्य असमंजस में पड़ सकता है कि लुहार ने इस दुमुँही प्रक्रिया को क्यों अपना रखा है; पर वह कारीगर जानता है कि किसी लोहे के टुकड़े को बढ़िया उपकरण की शक्ल में परिणत करने के लिए दोनों ही प्रकार की ठण्डी-गरम प्रणालियों का प्रयुक्त होना आवश्यक है। मनुष्य के जीवन में भी सुख-दुख का, धूप-छाँह का अपना महत्त्व है। रात-दिन की अँधेरी, उजेली विसंगतियाँ ही तो कालक्षेप का एक सर्वाङ्गपूर्ण विधान प्रस्तुत करती है। यदि मनुष्य सदा सुखी और सम्पन्न ही रहे तो निश्चय ही उसकी आन्तरिक प्रगति रुक जाएगी। जो झटके प्रगति के लिए आवश्क हैं उन्हें ही हम कष्ट कहते हैं। इन्हें सच्चा भक्त कड़ुइ औषधि की तरह ही शिरोधार्य करता है। सन्निपात का मरीज जैसे डाक्टर को गाली देता है, वैसी भूल समझदार आस्तिक ईश्वर के प्रति नहीं कर सकता।

विपन्नताओं की स्थिति में धैर्य न छोड़ना, आस्तिकता का प्रथम चिन्ह है जिसे परमात्मा जैसी अनन्त सामर्थ्यवान् सत्ता के साथ

बैठने का सौभाग्य प्राप्त है वह किसी भी व्यक्ति या परिस्थिति से क्यों डरेगा? क्यों अधीर होगा? क्यों निराशा और कातरता प्रकट करेगा? धैर्य और साहस की अजस्र धारा उसके मनःक्षेत्र में से उठती ही रहनी चाहिए।

जो आस्तिक है उसकी आशा कभी क्षीण नहीं हो सकती। वह केवल उज्ज्वल भविष्य पर ही विश्वास रख सकता है। अन्धकार अनात्म तत्त्व है। आत्म-परायण व्यक्ति के चारों ओर प्रकाश—केवल प्रकाश रहना चाहिए। उसे झुँझलाने और खिन्न होने की आवश्यकता क्यों पड़ेगी? आस्तिकता माने—आत्म विश्वास करने वाले को अपना भविष्य सदा उज्ज्वल एवं प्रकाशवान् ही दिखाई देगा।

उपासना का दूसरा प्रतिफल है श्रेष्ठताओं की वृद्धि। चूँकि परमात्मा समस्त श्रेष्ठताओं का केन्द्र है, उसका सान्निध्य आत्मा को दिन-दिन उत्कृष्ट बनाता चलता है। भक्त को अपना भगवान् सब में दिखाई पड़ता है इसलिए वह हर किसी की अच्छाइयाँ देखता है और उनकी चर्चा एवं विचारणा करते हुए अपने आनन्द और दूसरों के सद्भाव को बढ़ाता है। निन्दा और ईर्षा असुरता के दो प्रधान अस्त्र हैं। इनका प्रयोग उसी पर किया जा सकता है जिसके प्रति परायेपन का, शत्रुता, का भाव रहे। जब सब अपने हैं तो अपनों की निन्दा कैसी? अपनो से ईर्षा कैसे?

बुराई को तोड़ने के लिए नहीं, अच्छाई को बढ़ाने के लिये उसके प्रयत्न होते हैं। अच्छाई को बढ़ाना ही वस्तुतः बुराई को तोड़ना है। बुराई तोड़ दी जाय और उसके स्थान पर अच्छाई की स्थापना न हो तो टूटी हुई बुराई फिर उपज आती है। आस्तिकता का दृष्टिकोण अच्छाई को बढ़ाना होता है ताकि बुराई के लिए कोई गुञ्जायश ही न रहे। वह सदा अच्छाई की चर्चा करेगा। प्रेम से दुष्टता को परास्त करेगा। दुष्टता करके प्रेम के अँकुरों को जला देना असज्जनों का काम है। आस्तिक असज्जन नहीं हो सकता।

प्रेम, करुणा, आत्मीयता और सौजन्य की अजस्र धाराएँ परमात्मा से प्रवाहित होती रहती हैं। प्राणिमात्र का पोषण संरक्षण एवं अभिवर्धन इन्हीं विशेषताओं के द्वारा तो वह करता है। ऐसे प्रभु के समीप बैठने वाले में—उपासना करने वाले में-यही विशेषताएँ अवतरित होती हैं। अपने भाई बहिनों के प्रति-प्राणिमात्र के प्रति अनन्त करुणा और आत्मीयता की भावनाएँ उपासक के अन्तःकरण में उद्भूत होती हैं। उनको चरितार्थ करके वह अपने जीवन को यशस्वी बनाता है और मनःक्षेत्र में धारण किये रहकर अनन्त शांति का अनुभव करता है।

परमात्मा की उपासना का प्रतिफल पाने के लिए प्रतीक्षा करनी पड़ती है। कई व्यक्ति पुरुषार्थ के मूल्य पर मिलने वाली भौतिक सम्पदाओं को परमात्मा से मुफ्त में ही पाने की आशा लगाए हुए दीन-हीन भिक्षुक की तरह बैठे रहते हैं। जिन्हें प्रेम और उत्सर्ग की उच्च भावनाओं से प्रेरित होकर प्रभु के चरणों में बैठने की आकाँक्षा है उन्हें अपने प्रियतम का प्रेम प्रतिपादित करने के लिए क्षण-भर भी प्रतीक्षा नहीं करनी पड़ती। उपासना वासना की आग को बुझाती है, तृष्णा की जलन को शान्त करती है, चिन्ता, भीति और घृणा को उन व्यथाओं को हटाती है, जो मानव-जीवन को निरन्तर अशान्त बनाए रहती है। उपासना और आत्मशान्ति एक ही वस्तु के दो पहलू हैं। आत्मा अपनी उद्गम सत्ता परमात्मा की ओर उन्मुख होगी तो निश्चय ही उसे प्रकाश मिलेगा। परमात्मा का प्रकाश पड़ने पर आत्मा भी अपने सत्-चित-आनन्दमय स्वरूप के साथ प्रकाशवान् दीखता है। ऐसे प्रकाशवान् जीवन में नर से नारायण की, पुरुष से पुरुषोत्तम की, आत्मा से परमात्मा की प्रत्यक्ष परिणति दृष्टिगोचर होती है। इसलिए उपासना को मानव-जीवन की सर्वोपरि बुद्धिमत्ता माना गया है।

□

ईश्वर उपासना आवश्यक क्यों?

चील अपने शिकार की खोज के लिए आसमान की ओर उड़ान भरती है। एक निश्चित ऊँचाई पर जाकर वह गोलाई में चक्कर लगाना प्रारम्भ करती है। वहाँ से उसे अधिक दूर-दूर तक की चीजें देखने में सुगमता मिलती है। चील उस ऊँचाई से जमीन की प्रत्येक दृश्य वस्तु को बड़ी सूक्ष्मता से परखती है और जब उसे अपने शिकार का पता चल जाता है तो वह तेज झपट्टा मारकर उसे पकड़ ले जाती है।

चील यह कार्य जमीन में या कम ऊँचाई वाले वृक्षों पर बैठकर भी कर सकती थी, पर छोटी उँचाई से छोटे स्थान का ही अवलोकन किया जा सकता है। छोटी-सी जगह में शिकार मिले या न मिले इस सन्देह से बचने के लिए ही वह ऊँचे उड़ती, नीचे देखती और आसानी से अपना शिकार ढूँढ़ लेती है।

मनुष्य की स्थिति भी ठीक ऐसी ही है। अपने आस-पास की वस्तुओं को वह स्थूल आँख और छोटे विवेक से परखता है, इसलिए मनुष्य जीवन में आने का वह अपना लक्ष्य अधिक निश्चयतापूर्वक खोज नहीं पाता। अपने जीवनोद्देश्य से अपरिचित रहे व्यक्ति का तौर-तरीका, रहन-सहन और विचार-व्यवहार भी प्रायः अस्त-व्यस्त श्रेणी के होते हैं। जिस मनुष्य ने सही लक्ष्य का ज्ञान प्राप्त न किया हो उसका जीवन व्यर्थ ही समझना चाहिए।

ईश्वर उपासना से मनुष्य को वह स्थिति प्राप्त होती है जहाँ से वह अधिक सूक्ष्मता, दूरदर्शिता एवं विवेक के साथ संसार और उसकी परिस्थितियों का निरीक्षण करता है। अपने ही क्षुद्र अहंकार से संसार की तुलना करने से मनुष्य के प्रत्येक कार्य में संकीर्णता रहती है, संकीर्णता के कारण आत्मा अपनी विशालता का-अपनी शक्ति और सामर्थ्य का आनन्द नहीं लूट पाती। मनुष्य तुच्छ सा बना रहता है, ठीक उसी तरह जिस तरह सृष्टि के अन्य जीव-जन्तु।

आत्मा के सच्चे स्वरूप के ज्ञान के लिये वह ऊँचाई अपेक्षित है जो ईश्वर उपासना से मिलती है। सही लक्ष्य का ज्ञान उस स्थिति का बार-बार मनन किये बिना प्राप्त नहीं होता।

जब भी कोई ईश्वर उपासना के लिए तत्पर होता है तो वह इस आधार को ही लेकर चलता है कि इस संसार की कोई मुख्य नियामक शक्ति अवश्य होनी चाहिए, प्रत्येक वस्तु का कोई न कोई रचयिता होता है, विश्व का तब सृजनहार भी कोई होगा अवश्य। जब इस तरह की मान्यता अन्तःकरण में उत्पन्न होती है तो तत्काल मनुष्य के सोचने के ढङ्ग में परिवर्तन होता है। अब तक वह जिन वस्तुओं से अनावश्यक लगाव रख रहा था अब उनके प्रति कौतूहल पैदा होता है। अब तक जो वस्तुएँ उसे सामान्य सी प्रतीत होती थीं अब उनमें विशद विज्ञान भरा दिखाई देने लगता है। इस तरह मनुष्य का ज्ञान विकसित होता है और विश्व के सच्चे रूप को जानने की छटपटाहट भी। यह दोनों बातें मनुष्य के सही लक्ष्य के चुनाव के लिए आवश्यक थीं। दोनों ही ईश्वर की उपासना से मिलती हैं।

उदाहरणार्थ सूर्य, चन्द्रमा, पृथ्वी, सागर, नदियाँ, पहाड़ आदि प्राकृतिक वस्तुएँ जिन्हें साधारण मनुष्य यों ही देखकर छोड़ देते हैं ईश्वर उपासक उन्हें विराट् रूप में देखता है। वह सोचता है कि इतना बड़ा संसार बना कैसे यह पदार्थ है क्या, यह शरीर कहाँ से आया और इसके भीतर निवास करने वाले अहंकार का स्वरूप क्या है। उपासना का स्तर जितना विकसित होता है गूढ़ प्रश्न उतने ही अधिक मात्रा में प्रस्फुटित होते हैं। विचार करने की क्षमता भी उसी अनुपात में बढ़ती है और यह निश्चय है तब मनुष्य अपने जीवनोद्देश्य की समीपता की ओर भी तीव्रता से अग्रसर होने लगता है।

साधारण व्यक्ति इस संसार के भौतिक पदार्थों में सुख ढूँढ़ते हैं, ज्ञान का उनकी दृष्टि में कोई महत्त्व नहीं होता, पर इससे मनुष्य जीवन में विकार पैदा होते हैं। बुराइयाँ आती और कठिनाइयाँ बढ़ती हैं। जब तक मनुष्य भौतिक सुखों में भटकता है तब तक वह अपनी

परेशानियाँ ही बढ़ाता है। उसे यह ज्ञान नहीं होता कि सुख और दुःख में अन्तर क्या है? सुख समझकर भोगे जाने वाले भोग और इन्द्रियाँ ही जब मनुष्य की मृत्यु का कारण बन जाती हैं तब यह पता चलता है कि आत्म-अज्ञानता के कारण ही वह स्थिति आई और उसका निराकरण एक ही तरीके से संभव है—उसी का नाम है ईश्वर उपासना, जहाँ से ज्ञान का प्रादुर्भाव होता है।

ईश्वर उपासना में लगी हुई बुद्धि मनुष्य में इतना विवेक भरती है जिससे वह संसार की क्षुद्र वासनाओं से बचने का प्रयत्न करता है और विश्व के सर्वोच्च सत्य को पहचानने का प्रयत्न करता है। सच्चाई का अनुभव किए बिना सुख कहाँ? अज्ञान तो मनुष्य के दुःख का ही कारण बताया गया है।

अपनी आँख से अपनी आँख को देख पाना बड़ी कठिन बात है। जब कोई ऐसी आवश्यकता पड़ती है तो दर्पण ढूँढ़ते हैं और उसके माध्यम से आँख की स्थिति का पता लगाते हैं। मनुष्य इसी तरह अपने भीतर ही बैठकर अपनी स्थिति का सही अन्दाज नहीं लगा सकता। अपनी जानकरी ही पर्याप्त नहीं, अपने पास-पड़ोस की वस्तुएँ, वह परिस्थितियाँ जिनसे मनुष्य प्रतिक्षण प्रभावित होता है उनकी भी जानकारी आवश्यक है। इन सब का ज्ञान किसी सबसे ऊँची जगह बैठकर ही किया जा सकता है। वह स्थिति ब्रह्म ही हो सकती है। ब्रह्म की अनुभूति के साथ-साथ ही संसार के सच्चे ज्ञान का प्रादुर्भाव होता है।

ईश्वर उपासना का अर्थ है—अपने आपको विकसित करना। चील की तरह ऊपर उठकर अपनी निरीक्षण वृत्ति को चौड़ा करना। जो जितनी ऊँचाई पर उठकर देखता है, उसे उतना ही दूरदर्शी, विवेकवान् समझा जाता है। जब सारी वस्तुओं की स्थिति का सही पता चल जाता है, तो फिर यह कठिनाई नहीं रहती कि किसे चुनें, किसे न चुनें। इस प्रकार का ज्ञान पैदा हुए बिना मनुष्य अपनी जिन्दगी सुखपूर्वक बिता नहीं सकता।

साधारणतया मनुष्य शरीर को ही सब कुछ मानते हैं और सारा जीवन उस शरीर की इन्द्रिय लिप्सा को शान्त करने में ही बिता देते हैं। इतने से लौकिक आवश्यकता संभव है किसी हद तक पूरी हो जाती हो; किन्तु परलोक बिल्कुल भूला हुआ-सा रह जाता है। परलोक की मान्यताएँ सर्वथा निराधार हैं ऐसा कहा भी नहीं जा सकता। विज्ञान सिद्ध कर रहा है कि अन्य ग्रहों में भी जीवन संभव है। ऐसी स्थिति में स्वर्ग और नर्क की कल्पना का भी कुछ आधार होना ही चाहिए। इस आधारभूत ज्ञान के लिए लौकिक जीवन ही पर्याप्त नहीं वरन् अपने भीतर के चेतन-तत्त्व पर विचार-दृष्टि डालना भी आवश्यक है। इस आन्तरिक चेतना के लिये ब्रह्म दर्पण है। ईश्वर की मान्यता में व्यक्ति अपने निजत्व को पहचानने का प्रयत्न करता है और उसके सहारे पारलौकिक जीवन का भी ज्ञान प्राप्त करता है।

परमात्मा से तादात्म्य होना आत्मा को विशाल बनाने की महत्त्वपूर्ण प्रक्रिया है। अहंकार मिटाए बिना मनुष्य का पारलौकिक हित सम्पन्न नहीं होता। मनुष्य जब अपने आप को भुलाता है, तो वह सम्पूर्ण विश्व को ही आत्म-स्वरूप में देखने लगता है। सब उसे अपने ही नाना रूप दिखाई देते हैं। जब सब अपने होंगे तो फिर किसी के साथ न तो छल होगा न कपट, न क्रोध आएगा, न प्रतिशोध की भावना। सबके सुख में सुख मिलेगा। सब प्यारे लगेंगे, सब अपने सम्बन्धी जान पड़ेंगे।

इस आन्तरिक विशालता में ही जीवात्मा को सच्चा आनन्द, सच्चा संतोष और सच्ची तृप्ति मिलती है। यह स्थिति पाकर मनुष्य का जीवन सार्थक हो जाता है। मनुष्य आनन्द से उत्पन्न हुआ था पर बीच में मार्ग भटक जाने के कारण वह दुःखग्रस्त हो गया था। अब फिर से सही रास्ते पर आने और अन्त में उसी आनन्द में विलीन हो जाने के लिए ईश्वर को जानना आवश्यक हुआ। परमात्मा सम्पूर्ण सृष्टि का मूल है उसे जानने से ही आन्तरिक प्यास बुझती है, सन्तोष मिलता और सद्गति मिलती है। इससे अन्यत्र आत्म-कल्याण का मार्ग

नहीं। परमात्मा की शरणागति पाये बिना मनुष्य जीवन जैसा बहुमूल्य अवसर भी बेकार में ही बीत जाता है।

उपासना—अर्थात् परमात्मा की समीपता

संसार के सारे पदार्थ और सारी क्रियाएँ साधन हैं। साध्य केवल है आत्म-शांति। यदि आत्मा में शांति का अभाव है तो किसी के पास कितना ही वैभव, कितनी ही विभूति और कितनी ही शक्ति क्यों न हो, समाज में कितना ही आदर सम्मान क्यों न हो, उसे कोई भी ऐसी अनुभूति नहीं हो सकती जिसे सुख की संज्ञा दी जा सके।

इसी आत्म-शांति के अभाव में, अपनी समझ से संसार का सारा सुख भोग लेने पर भी बड़े-बड़े सम्राटों और श्रीमन्तों को असन्तोष से भरी भयानक मृत्यु मरना पड़ता है। तड़प-तड़प कर उनके प्राण निकलते हैं और कलप-कलप कर वे संसार छोड़ते हैं। जब संसार का सुख भोग लिया, पदार्थों का आनंद ले लिया, तब अन्त समय में कलपना किसलिए?

स्पष्ट है कि ऐसे व्यक्ति की आत्मा में असन्तोष होता है जो जीवात्मा को रह-रह कर संसार की ओर ढकेलता है। असन्तोष का निवास वहीं रहता है जहाँ शांति नहीं होती। आत्मा में असन्तोष का ज्वर है तो वहाँ पर शांति की शीतलता नहीं ही होनी चाहिए।

आत्मशांति की उपलब्धि संसार के सुखों और पदार्थों के भोग से सम्भव नहीं। उसकी प्राप्ति तो तब होती है जब मनुष्य के जीवन-आचरण में श्रेष्ठता का समावेश होता है। श्रेष्ठता ही आत्मशांति का एकमात्र आधार है। श्रेष्ठ आत्मा वाले व्यक्ति कितने ही गरीब और एकाकी क्यों न हों उन्हें असन्तोष की यातना सहन नहीं करनी पड़ती। विद्वान, परमार्थी, भक्त तथा परोपकारी व्यक्ति श्रेष्ठ आत्मा वाले ही होते हैं। इस सम्बल के आधार पर ही तो वे अभावों से भरा अपना जीवन शांति के साथ जीते हैं और सन्तोष के साथ छोड़ते हैं। उन्हें किसी तरह का मनस्ताप नहीं सताता। ऋषि, मुनि, महात्मा, मनीषी, चिन्तक तथा दार्शनिक व्यक्तित्व न कभी धन वैभववान् रहे

हैं और न उन्होंने सांसारिक पदार्थों के भोग में ही अपना जीवन निमग्न किया। उनका जीवन सदा ही सरलतम तथा सादा रहा है। भोजन, वस्त्र और निवास जितना साधारण कोटि का हो सकता है उनका रहा। दिनचर्या और परिश्रम उनका इतना कठिन और कठोर रहा है जो किसी के लिए कष्ट के समान ही हो सकता है। आगे भी इसी कोटि के व्यक्ति इसी प्रकार अभाव भरा जीवन ग्रहण करेंगे और आज भी जो जहाँ हैं, जाकर देखा जा सकता है, ऐसा ही जीवनयापन करते दिखालाई देंगे। तब भी उनके समान सुखी तथा सन्तुष्ट कोई दूसरे कदाचित् ही रह पाते हैं। इसका केवल एक ही कारण है और वह है उनकी आत्म-श्रेष्ठता। जिसने अपनी आत्मा में श्रेष्ठता का विकास कर लिया है आत्मशांति उसकी अपनी वस्तु हो ही जाती है। साध्य पर अधिकर हो जाने पर साधनों से चिपटे रहना किसके लिए श्रेयस्कर हो सकता है? सूर्य का प्रकाश उपलब्ध होने पर दीपक जलाने की आवश्यकता ही नहीं रह जाती।

जिसका विकल्प आत्मशांति है, उस श्रेष्ठता का लक्षण है शुभदर्शन। श्रेष्ठ व्यक्ति को सारे संसार में, सारी दिशाओं में, सारी घटनाओं तथा सारे संयोगों में केवल कल्याण के ही दर्शन होते हैं। वह शुभ के लिए ही शुभ कर्म करता है और उनके परिणाम को किसी भी रूप में शुभ ही देखता और कल्पना करता है। निराशा, निरुत्साह, खेद, दुःख, पश्चात्ताप, अमङ्गल अथवा असम्भाव्य की आकाँक्षा उसे विचलित नहीं कर पाती। जो स्थिति उसकी असफलता तथा सम्पन्नता में रहती है वही सफलता एवं विपन्नता में रहती है उसका हर्ष, उसका सुख और उसका सन्तोष भङ्ग नहीं होता।

दुनिया पर यदि दृष्टिपात किया जाए तो एक-दो नहीं सैकड़ों व्यक्ति हँसते खेलते, बोलते, मुदित तथा प्रसन्न होते दिखलाई देंगे। उनको देखकर यह कहना कठिन हो जाएगा कि इनके जीवन में कोई दुःख, ताप, अशांति या असन्तोष भी हो सकता है। कहने के लिए यह भी कहा जा सकता है कि ये सब श्रेष्ठ-आत्मा व्यक्ति होंगे,

इन्हें आत्मशांति मिल चुकी होगी तभी तो यह प्रसन्नता इनके मुख-मण्डलों पर विराजमान दिखलाई दे रही है; पर बात वास्तव में वैसी नहीं होती। उनकी प्रसन्नता का रूप वही होता है जैसे कोई स्वप्न अथवा सन्निपात में हँसता या प्रसन्न होता है। उनकी वह प्रसन्नता मौलिक नहीं होती और न स्थायी ही। या तो वे उस समय किसी पदार्थ भोग से छले होते हैं अथवा लाभ अथवा प्राप्ति से विमोहित। उनके हर्ष का हेतु खोज कर हटा दिया जाए, तो उनका उल्लास भी नष्ट हो जाएगा।

वास्तविक अथवा आध्यात्मिक हर्ष तो वह माना जाएगा जो अहेतुक हो। जिसका आधार आत्मा के अतिरिक्त और कुछ न हो। संसार के नश्वर और क्षणिक सुख भोग से अनुभव होने वाला हर्ष एक छलना, सो भी नश्वर छलना के समान ही होता है, जिसका प्रवञ्चन भी अधिक देर तक नहीं ठहरता। यथार्थ तथा स्थायी प्रसन्नता उसी को कहा जा सकता है जिसका विकल्प दुःख कदापि न हो। आज किसी को व्यापार में लाभ हुआ है, किसी का विवाह हुआ है अथवा किसी को पुत्र की प्राप्ति हुई है। वह प्रसन्न तथा हर्षित दिखलाई देता है इसका अर्थ यह नहीं कि उस उल्लास के माध्यम से उसकी आत्म-श्रेष्ठता व्यक्त हुई है। वह हर्ष, वह उल्लास, वह प्रसन्नता उक्त लाभ अथवा उत्सव की प्रतिक्रिया मात्र होती है। जो पुनः आवेग समाप्त हो जाने पर शमन हो जाती है और मनुष्य अपनी उदासीन स्थिति में वापस चला जाता है और पुनः खेद और दुःख अनुभव करने लगता है।

जो प्रसन्नता लाभ में बनी रही, वह हानि में भी स्थिर रहे, जो सम्पत्ति के समय अनुभव हो वही विपत्ति के समय, जो अनुकूलताओं में जाग्रत् रहे और प्रतिकूलताओं में भी नष्ट न हो, वही सच्ची तथा श्रेष्ठता-जन्य प्रसन्नता मानी जाएगी।

आत्मा की श्रेष्ठता परमात्मा की उपासना से प्राप्त होती है। नास्तिक अथवा अनाध्यात्मिक व्यक्ति संसार का कोई भी वैभव,

कोई भी पदार्थ और कोई भी भोग क्यों न प्राप्त करले पर उसे सच्ची आत्मोत्कृष्टि नहीं मिल सकती। इस संसार में जो कुछ शुभ है, श्रेष्ठ है, उत्कृष्ट और मङ्गलमय है वह सब उस परमपिता की ही विभूति है। उसी से सम्पन्न होती है और उसी में आश्रित है। सृष्टि का सौन्दर्य, पृथ्वी की सम्पन्नता, सागर का भण्डार, वनस्पतियों का स्वाद, औषधियों की शक्ति, ग्रह-नक्षत्रों का प्रकाश, ऋतुओं का आनन्द और मनुष्य की अनुभूति शक्ति—सबके पीछे उस परमात्मा की ही विभूति विराजमान है। संसार की सारी श्रेष्ठताओं को परमात्मा का आभास ही माना गया है। परमात्मा से ही सब कुछ सुन्दर है और उसी से सब कुछ मङ्गलमय है। अस्तु आत्मा की श्रेष्ठता प्राप्त करने के लिए संसार के साधनों की ओर न जाकर परमात्मा की ही उपासना करनी चाहिए।

उपासना का अर्थ है—समीप बैठना, सामीप्य अथवा उपसङ्ग। जिसके समीप उपस्थ रहा जाएगा, उसकी विशेषता अपने में आ जाना स्वाभाविक ही होता है। गर्म लोहे के पास स्थित ठण्डा लोहा उसकी गर्मी ग्रहण करता हुआ स्वयं भी गर्म हो जाता है। हिम के सम्पर्क में आने वाली वस्तु ठण्डी हो जाती है। जङ्गल में चन्दन वृक्ष के समीप उगा वृक्ष भी उसके सम्पर्क से चन्दन जैसी ही गन्ध वाला हो जाता है और प्रकाश के सङ्ग में आने वाली वस्तु भी प्रकाशित हो उठती है। सम्पर्क, संसर्ग अथव उपस्थिति को गुण दोषों की ग्राह्यता का बहुत बड़ा कारण माना गया है।

उपासना में रहने वाला व्यक्ति परमात्मा के समीप ही रहता है और उसके परिणामस्वरूप उसकी विशेषताएँ ग्रहण करता रहता है। परमात्मा सारी श्रेष्ठताओं तथा उत्कृष्टताओं का विधान है। इसलिए वे गुण उस उपासक में भी आने और बसने लगते हैं। कोई कारण नहीं कि मनुष्य हिमाच्छादित पर्वतों के समीप रहे और शीतलता अनुभव न करे। फूलों से भरी वाटिका में रहने पर तन-मन सुगन्धित न हो उठे, ऐसा होना संभव नहीं। जो भी उपासना द्वारा परमात्मा का

सामीप्य प्राप्त करेगा उसके समीप बना रहेगा, उसमें परमात्मा का गुण, श्रेष्ठता का स्थानान्तरण होना चिर स्वाभाविक ही है।

हजारों लाखों व्यक्ति नित्य ही पूजा-पाठ करते दिखलाई देते हैं। वे ऐसा भी समझते हैं कि उपासना कर रहे हैं। बहुत से दूसरे लोग भी उन्हें उपासक मान बैठते हैं; पर उनकी यह उपासना वाँछित फल के साथ सफल नहीं होती। न तो उन्हें श्रेष्ठता मिलती है और न आत्म-शाँति। वे पूजा-पाठ करने के बाद भी झूठ बोलते हैं, मक्कारी करते हैं। क्रोध, लोभ और मोह के वशीभूत रहते हैं जिसके फलस्वरूप मन में न तो शीतलता और न आत्मा में संतोष की अनुभूति होती है। ज्यों के त्यौं, शोक-संतापों, यातनाओं, त्रासों, शङ्काओं, अभावों तथा असन्तोषों से पीड़ित रहा करते हैं। पूरी तरह से यथावत भव-रोगी बने रहते हैं। परमात्मा के वे श्रेष्ठ गुण, जिन्हें प्रेम, सौहादर्य, करुणा, दया, आत्मीयता, आनन्द, सन्तोष, शांति आदि के नामों से पुकारा जाता है, प्राप्त नहीं होते। शतशः सिंचन के बाद भी स्थाणु के स्थाणु बने रहते हैं, न उनमें कोई पल्लव प्रस्फुटित होते हैं और न फूल खिलते हैं।

परमात्मा की उपासना करने से उसकी श्रेष्ठताओं का आत्मान्तरित होना एक अटल सत्य है। इसमें अपवाद से ही नहीं सकता। जब उपासना करता दिखलाई देने पर भी किसी व्यक्ति में श्रेष्ठ परिवर्तन के लक्षण दृष्टिगोचर न हों कोई भी बुद्धिमान् व्यक्ति असंदिग्ध घोषणा कर सकता है कि वह उपासना, उपासना नहीं, बल्कि उसका आडम्बर मात्र है, दिखावा है, प्रदर्शन है।

सच्ची उपासना का अर्थ है आत्मा को परमात्मा से जोड़ देना। ऐसा करने पर, जिस प्रकार प्रणाली द्वारा खाली जलाशय को भरे जलाशय से सम्बन्धित कर देने से उसकी जलराशि उसमें भी आने लगती है और रिक्त जलाशय भी उसकी तरह ही पूर्ण हो जाता है, उसी प्रकार आत्मा द्वारा परमात्मा से सम्बन्ध बना लेने से परमात्मा की श्रेष्ठताएँ मनुष्य में भी प्रवाहित हो आती हैं; किन्तु इस माध्यम के

बीच कोई व्यवधान रख दिया जाए तो प्रवाह रुक जायेगा। खाली जलाशय को जल और मनुष्य को श्रेष्ठता प्राप्त नहीं होगी।

आग के पास आने पर ठण्डा लोहा उष्मा प्राप्त करता है; पर यदि आग और उसके बीच लकड़ी का एक पटला रख दिया जाए तो लोहा आग की गरमी से वंचित रह जाएगा। इसी प्रकार जब उपासना की विधि में आत्मा और परमात्मा के बीच कामनाओं का व्यवधान डाल दिया जाता है, तो मनुष्य परमात्मा को ग्रहण करने से वंचित रह जाता है। जिन उपासकों में परमात्मा के लक्षण सङ्कुलित होते दिखलाई न दें समझ लेना चाहिए कि उसकी आत्मा और परमात्मा के बीच कामनाओं, वांछनाओं तथा वासनाओं का व्यवधान पड़ा हुआ है और जब तक यह व्यवधान हटाया नहीं जाएगा, उपासना का वास्तविक फल प्राप्त होना सम्भव नहीं। अधिकांश पूजा-पाठ तथा चन्दन-वन्दन करने वाले उपासना नहीं उपासना का आडम्बर ही किया करते हैं। या तो उसके आधार पर उन्हें अपना महत्त्व प्रदर्शन करने का भाव घेरे रहता है अथवा उनकी उपासना का लक्ष्य किसी कामना की पूर्ति रहता है। परमात्म-तत्त्व की प्राप्ति नहीं।

मनुष्य जीवन का चिर साध्य है आत्म-शांति, जिसका आधार है वे श्रेष्ठताएँ जो परमात्मा के स्वाभाविक गुण हैं और जिन्हें उपासना के आधार पर ही पाया जा सकता है; किन्तु सच्ची उपासना वह है जो केवल उपासना के लिए निष्काम होकर की जाए।

निष्काम रूप से उपासना प्रारम्भ कर परमात्मा से आत्मा का सम्बन्ध स्थापित करिये और श्रेष्ठताओं की उपलब्धि कर सुख-शांति के अक्षय आनन्द से भरे जीवन और अनन्त अन्त की परख कीजिए।

उपासना का उद्देश्य आत्म-शान्ति

अनेक बार लोग कह उठते हैं कि—"यह हमारा व्यक्तिगत अनुभव है कि अधिक उपासना करने वाले लोग बहुधा विपन्न और दुःखी ही रहा करते हैं।"

संसार का कोई भी सच्चा उपासक इस विपरीत कथन से सहमत नहीं हो सकता। उपासना का परिणाम तो संतोष, शांति, प्रफुल्लता, आशा, विश्वास तथा आनन्द ही होता है। तब उसको धारण करने वाले को विपन्नता और दुःख किस प्रकार हो सकता है? मनुष्य वृक्ष की घनी छाया में बैठे और उसका आतप-ताप दूर न हो, फूलों से भरी वाटिका में विहार करे और उसका तन-मन न महक उठे, ऐसा किस प्रकार सम्भव हो सकता है? उपासना के माध्यम से परमात्मा के समीप रहने पर आत्मा में आनन्द का सागर न लहराने लगे यह सम्भव नहीं।

प्रेम, करुणा, आत्मीयता और आनन्द की पावन धाराएँ निरन्तर ही परमात्मा में प्रवाहित होती रहती है। इन अमरत्व तत्त्वों से ही तो संसार के प्राणियों और पेड़-पौधों का पालन-पोषण होता है। एक क्षण को भी यदि वह परम दयालु परमात्मा अपनी इस कृपा को रोक ले, तो इस सुन्दर संसार को नष्ट होते देर न लगे। ऐसे आनन्दकन्द परमात्मा के संसर्ग में आकर कोई विपन्न और दुःखी रहे, यह तो अत्यन्त आश्चर्य की बात है।

उपासना का परिणाम आत्मानन्द और आत्म-सन्तोष है। उपासना करने से इन्हीं की उपलब्धि होगी भौतिक विभूति और आर्थिक उपलब्धियों के लिए पुरुषार्थ और परिश्रम का नियम निश्चित है। जो इस नियम का उल्लंघन करते हैं या करेंगे उन्हें विपन्न रहना ही पड़ेगा। परमात्मा ने जब साधन, शक्ति, उपाय एवं बुद्धि की व्यवस्था करके भौतिक उपलब्धियों का मार्ग प्रशस्त कर दिया तब क्या कारण है कि लोग उससे उपासना के पुरस्कार रूप धन-दौलत और सुख-सुविधा चाहते हैं। यह अनधिकार चेष्टा है, जिसको स्वीकार नहीं किया जा सकता।

उपासना करते हुए भी जो विपन्न और दुःखी रहते हैं, वे सच्चे उपासक नहीं। प्रभु के पास उनका गमन ठीक वैसा ही होता है, जैसे कि कोई बच्चा मन्दिर की प्रार्थना में प्रसाद के लालच से

शामिल होने जाता है। ऐसे लालची लोग उपासना का वह आनन्द नहीं पा सकते, जो भक्ति रस में डूबे हुए भावों के साथ प्रभु को आत्म-समर्पण करने वाले उपासकों को मिलता है। प्रभु के चरणों में अपनी अन्तरात्मा को निष्काम-भाव से अर्पण करने वाले उपासकों को मिलता है। प्रभु के चरणों में अपनी अन्तरात्मा को निष्काम-भाव से अर्पण करने वाले भक्ति-विभोर और प्रसाद की मिठाई लेने के उद्देश्य से उपस्थित लोभी में जो अन्तर होता है, वही अन्तर सच्चे तथा वंचक उपासक में होता है।

अस्तु उनकी प्राप्ति भी अपनी-अपनी भावना एवं स्तर के अनुरूप ही होगी। एक उपासना के उसी फल को चाहता है, जो उसके साथ नियत है और दूसरा वह कुछ चाहता है, जिसकी नियति किन्हीं अन्य साधनों तथा उपायों से है। ऐसे ना-समझ और नियति विरोधियों की ओर वह परम दयालु परमात्मा भी कुछ अधिक ध्यान नहीं दे पाता। निदान वे विपन्न तथा दु:खी बने रहते हैं।

भौतिक विभूतियों के लोभी उपासक का विपन्न रहना स्वाभाविक ही है। वह कुछ देर परमात्मा का चिन्तन अथवा भजन-पूजन करने के बाद अकर्मण्य होकर बैठा रहता और प्रतीक्षा किया करता है कि अब उसकी उपासना के मूल्यरूप धन-दौलत और सुख-साधन का हेतु परमात्मा का वरदान उस पर बरसने वाला ही है, जिसके परिणाम स्वरूप उसके लिए उन्नति, विकास तथा वैभव का द्वार स्वयं खुल जाएगा और वह बैठे-बैठाए मुफ्त में ही मालामाल होकर सर्वसुख सम्पन्न हो जाएगा।

कितना गलत विश्वास और कैसी भ्रान्त धारणा है। पुरुषार्थ तथा परिश्रम के बल पर मिलने वाली भौतिक सम्पदाएँ यों बैठे-ही बैठे किस प्रकार मिल सकती हैं। इसी वंचकता के कारण ही तो बहुत से अवास्तविक उपासक जीवन भर परमात्मा का भजन-पूजन करने के बाद भी विपन्न और दु:खी बने रहते हैं और बाद में अपने इस कटु अनुभव को सिद्धान्त के रूप में लोगों के सामने रखते हुए

कहा करते है कि—"बहुधा देखा जाता है कि अधिक उपासना करने वाले लोग विपन्न तथा दु:खी बने रहते हैं।"

उपासना स्वार्थ से नहीं प्रेम से प्रेरित होकर की जानी चाहिए। उपासना के पीछे निहित लक्ष्य भौतिक विभूतियों, बाह्य उपलब्धियों तथा आर्थिक उन्नतियों का नहीं बल्कि आत्मिक, शांति, संतोष तथा आनन्द का ही होना चाहिए। यही अनुकूलता एवं अनुरूपता है। ऐसा सच्चा और अनुकूल उपासक जब परमात्मा की समीपता में आता है तो उनमें दैवी श्रेष्ठताओं की अभिवृद्धि होती है। परमात्मा समस्त श्रेष्ठताओं का उद्गम है, उसका सामीप्य आत्मा में अनुदिन श्रेष्ठताओं को ही स्थान्तरित करता चलता है। परनिन्दा, ईर्ष्या, द्वेष, लोभ, लालच आदि के अदैवी दोष उससे दूर होते जाते हैं और शीघ्र ही वह प्रभातकालीन समुद्री वायु की तरह निर्विकार तथा निरुद्विग्न होकर आनन्द में स्थित हो जाता है।

जो प्रेम और समर्पण की श्रेष्ठ भावनाओं को लेकर परमात्मा के पावन चरणों में जाता है, उसे उसका प्रतिपादित प्रेम प्राप्त होते देर नहीं लगती है। परमात्मा की उपासना का प्रतिफल पाने के लिए प्रतीक्षा तो उन्हें करनी पड़ती है, जो दीन-हीन भिक्षुक के समान उसके सामने उन वस्तुओं के लिए रिरियाते रहते हैं, जिनको वह शक्ति, विवेक, उपाय तथा अवसरों के रूप में पहले ही दे चुका है। केवल इन विशेषताओं का प्रयोग ही मनुष्य का काम रह जाता है। जिसने हल, बैल, जल, भूमि और शक्ति दे दी है, उससे अब यह आशा करना कि वह खेती भी करे और उससे उत्पन्न फसल उसको दे दे तो यह एक दुराशा ही नहीं अनधिकार चेष्टा है, जो कि किसी दशा और किसी मूल्य पर भी स्वीकार नहीं की जा सकती।

परमात्मा की उपासना का जो प्रतिफल नियत है, उसकी इच्छा के साथ उपासना करना समीचीन तथा न्यायसंगत है। जल से आग और आग से जल की आशा करना न केवल असंगत ही है, बल्कि अन्यायपूर्ण मूर्खता है। उपासना से कामनाओं का कलुष

मिटता है, जिससे मनुष्य के हृदय से याचकता का दोष निकल जाता है। उपासना से वासनाओं का शमन होता है, जिससे आन्तरिक शांति की वृद्धि होती है। उपासना से तृष्णा का ताप नष्ट होता है, जिससे शांति और सन्तोष की प्राप्ति होती है। उपासना से चिन्ता, भय, घृणा, अशांति, दुष्टता तथा द्वेष के दोष मिटते हैं। आत्मा में प्रकाश तथा आनन्द की समाविष्टि होती है, न कि उससे धन-दौलत और सम्पदाओं की उपलब्धि होती है।

उपासना और आत्म-शांति एक ही बात के दो पक्ष है। आत्मा जब अपनी आदि एवं उद्‌गम सत्ता की ओर उन्मुख होगी तो निश्चय ही आत्मलोक और आनन्द की प्राप्ति होगी। आत्मा पर परमात्मा का प्रकाश पड़ते ही उसमें सत्-चित् आनन्द के रूप में उसका प्रतिबिम्ब प्रतिफलित हो उठेगा, जिससे साधारण मनुष्य भी परमात्म-स्वरूप होकर नर से नारायण और अंश से अंशी बन जाता है। उपासना की इतनी बड़ी उपलब्धि छोड़ कर जो व्यक्ति उसके आधार पर नश्वरता एवं निस्सारता से दूषित बाह्य एवं भौतिक सम्पत्तियों की कामना करते हैं, अवश्य ही उनकी बुद्धि पर तरस खाने को जी चाहता है।

मनुष्य धन-दौलत अथवा भौतिक विभूतियाँ क्यों चाहता है? इसीलिये कि उसे सुख-शांति और संतोष मिले और बहुत से लोग इसी लक्ष्य को आगे रखकर उपासना में निरत होते हैं; पर सोचने की बात है कि जब निर्लोभ उपासना के आधार पर अहेतुक, अविनश्वर, अक्षय और अनन्त आनन्द की उपलब्धि हो सकती है, तब निकृष्ट सुख को लक्ष्य बना कर उपासना करने में कौन-सा विवेक अथवा दूर दृष्टि है? निर्विकार उपासना द्वारा आत्मानन्द की उपलब्धि हो जाने पर जब किसी सुख की प्राप्ति शेष ही न रह जाएगी, तब धन-दौलत अथवा वैभव भण्डारों की क्या तो महत्ता रह जाएगी और क्या प्रयोजन? उद्देश्य जीवन को सुखी बनाना है और जब वह उपासना द्वारा अनायास और अनाधारित रूप से आनन्दित

हो सकता है, तब अनावश्यक आडम्बरों का बोझ अपने सिर पर रखना बुद्धिमानी नहीं कही जा सकती। जिस प्यास को मिटाने के लिए जिस उपाय से अमृत-सागर की उपलब्धि हो सकती है, उसी उपाय के आधार पर तालाब से दो चिल्लू पानी की आशा करना आन्तरिक हीनता के सिवाय और कुछ भी नहीं है।

दरिद्रता की द्योतक भौतिक कामनाओं को साथ लेकर उपासना करने वाले सदा-सर्वदा ही दरिद्र बने रहते हैं। जबकि अवंचक उपासना के पुरुषार्थी निराधार रूप से देवताओं जैसे सुखी और सम्पन्न बने रहते हैं। उनकी कामनाएँ, तृष्णाएँ और वासनाएँ मिट जाती हैं और उनका जीवन मानसरोवर की तरह निर्मल, शांत, शीतल और प्रसन्न हो जाता है।

उपासना जीवन की सर्वोपरि बुद्धिमत्ता है; किन्तु तब जब वह निर्लोभ और निर्विकार रूप से की जाए। धन दौलत और भौतिक सुख-साधन पुरुषार्थ और परिश्रम के प्रतिफल हैं। इनको उपासना के प्रतिफलों में जोड़ना क्षीर में क्षार मिलाने के समान असंगत है। इससे सारा रस और सारा उद्देश्य भंग हो जाता है। केवल निष्फलता और निराशा ही हाथ लगती है। आत्म प्रसन्नता के लिए उपासना कीजिये और भौतिक विभूतियों के लिए पुरुषार्थ। इन दोनों का सन्तुलन बनाये रखने वाला भीतर-बाहर दोनों ओर सुखी, शान्त, सम्पन्न और सन्तुष्ट बन कर लोक-परलोक के सारे पदार्थ पा जाता है।

उपासना के साथ कामनाएँ न जोड़ें

ईश्वर की उपासना का वास्तविक प्रतिफल अन्तर में स्थायी सुख, शांति और संतोष की वृद्धि होना माना गया है। यदि ऐसा नहीं होता तो मानना होगा कि उपासना के स्वरूप में कोई कमी चल रही है।

यहाँ पर उपासना के स्वरूप से आशय उपासना की विधि, सामग्री अथवा उसके स्थान आदि से नहीं है। उसका तात्पर्य उस मनोभाव से है, जो उपासना के आगे-पीछे उपस्थित रहता है। उपासना

में महत्त्व क्रिया-विधि अथवा साधन सामग्री का नहीं है, महत्त्व है—भावना का। यदि उपासक की भावना ठीक उपासना के अनुरूप है, तो निश्चय ही फलवती होगी। फल भावना के अधीन है, उपक्रम अथवा उपकरण के अधीन नहीं। मन्दिर का एक पुजारी दोनों समय जीवन भर आरती पूजा करता रहता है; पर उसका उसे कोई प्रतिफल नहीं मिलता। उसके जीवन का स्तर वही बना रहता है। उसके मानसिक विकास में कोई प्रगति नहीं होती। उसकी अशांति, असंतोष और आत्मिक अभाव ज्यों-का-त्यों बना रहता है। वह ठीक वैसा ही आदमी एक लम्बी अवधि के बाद भी बना रहता है, जैसा कि वह पूजन-क्रिया में आने से पूर्व था।

एक पुजारी दस-बीस वर्ष और कभी-कभी आजीवन तक मन्दिर में पूजा आरती करता रहता है; किन्तु उसे उसका वह फल नहीं मिलता, जो उपासना के परिणाम स्वरूप मिलना चाहिए। इसका एक ही कारण है, वह यह कि उसकी उस क्रिया में वास्तविक उपासना की भावना नहीं होती। उसकी भावना मन्दिर के अधिकारियों की नौकरी करने की होती है। अस्तु वह नौकर मात्र ही रह जाता है। उपासक नहीं हो पाता।

इस बात को एक श्रमिक और एक पहलवान् के उदाहरण से भी समझा जा सकता है। दोनों शारीरिक श्रम करते हैं। पसीना बहाते हैं, शारीरिक श्रम का प्रतिफल शारीरिक विकास ही होता है; पर मजदूर मेहनत करता-फिरता घिस जाता है। उसका शरीर क्षीण होता जाता है पर पहलवान् उसी शारीरिक श्रम से शारीरिक विकास की ओर बढ़ता है। इसका एक मात्र कारण भावना के अन्तर्गत निहित है। मजदूर जब मेहनत करता है, तब उसकी भावना आजीविका के लिए किसी की मजदूरी करने की रहती है और मल्ल जब व्यायाम के रूप में शारीरिक श्रम करता है तो उसकी भावना शारीरिक विकास की ओर प्रगति करने की रहती है। इसी भावना के कारण मजदूर का शरीर क्षीण होता हैं और पहलवान् का विकसित।

इसी प्रकार न जाने कितने लोग अलस सुबह उठकर अपने काम-काज के लिये जाया करते हैं और अनेक उसी समय प्रातः भ्रमण अथवा वायु-सेवन के लिए जाते हैं। प्रातःकाल का भ्रमण और वायु दोनों ही स्वास्थ्यदायक होते हैं; पर अपनी भावना के अनुसार पूर्व पक्ष के लोगों के स्वास्थ्य में कोई अन्तर नहीं आता; पर दूसरे पक्ष के लोगों के मुख पर लाली, शरीर में स्फूर्ति बढ़ जाती है। इस प्रकार पता चलता है कि किसी क्रिया के फल का आधार उसमें निहित भावना ही है न कि वह क्रिया अथवा उससे सम्बन्धित उपकरण।

उपासना की जाए और आन्तरिक विकास न हो, आत्म-सुख, आत्म-शान्ति और आत्म-सन्तोष में वृद्धि न हो यह सम्भव नहीं। यदि ऐसा नहीं होता तो मानना होगा कि उसमें निहित भावना अनुरूपिनी नहीं, विरूपिनी है। अवश्य ही ऐसा असफल उपासक ईश्वर के सामीप्य अथवा उसके निहित फल की भावना नहीं रखता। उसके हृदय में कोई अन्यथा भावना ही चलती रहती है।

अधिकांश लोग जो उपासना के फल से वंचित रहा करते हैं, अपने मन में धन-सम्पत्ति आदि भौतिक लाभों की ही भावना रखते हैं। जिन उपलब्धियों का आधार अन्य प्रकार के भौतिक पुरुषार्थ हैं, उनको आध्यात्मिक आधार पर पाने की आशा उसी प्रकार से उपहासास्पद है, जिस प्रकार कोई आम के बीज बोकर संतरे की कामना करता है अथवा बम्बई की दिशा में चलकर कलकत्ते पहुँचना चाहता है। भौतिक साधना का फल भौतिक और आध्यात्मिक साधना का आध्यात्मिक होगा, यह तो एक बड़ा ही स्थूल और निर्विवाद सत्य है।

भौतिक विभूतियों की कामना है, तो उसके लिए भौतिक श्रम, पुरुषार्थ और अध्यवसाय किया जाना चाहिए। कार-रोजगार और शिल्प-साधना की जानी चाहिए और यदि आत्म-सुख, आत्म-विकास, आत्म-संतोष, आत्म-विस्तार, आत्म-दर्शन आदि

आध्यात्मिक सम्पदाओं की कामना है तो आध्यात्मिक उपासना, आध्यात्मिक पुरुषार्थ चाहिए। इन दोनों भिन्न क्षेत्रों को एक दूसरे से मिलाना नहीं चाहिये। हाँ! इन दोनों को एक दूसरे का सहायक अवश्य बनाया जा सकता है।

आध्यात्मिक उपासना में यह भाव रखने में कोई हर्ज नहीं कि—हमें इस उपासना द्वारा वह शक्ति, वह आत्म-विश्वास और वह बुद्धि मिले, जिसके बल पर हम न्यायनीति और सदाचार द्वारा अपने भौतिक उद्योगों में सफल हो सकें। उपासना के फलस्वरूप भौतिक सम्पदाओं की-स्थूल उपलब्धि की कामना करना असंगत है, उसके लिए शक्ति और क्षमता की याचना ही उचित है। ईश्वर की कृपा सूक्ष्म शक्तियों के ही रूप में होती है, स्थूल पदार्थों के रूप में नहीं।

तथापि भौतिक विभूतियों के लिए शक्ति की याचना भी तभी उचित, संगत और अध्यात्मोचित होगी, जब साथ में यह भी भावना रहे कि आप उस उपलब्ध सम्पदा का उपयोग भी परमार्थ मार्ग में ही करेंगे। यदि आपकी सम्पदाओं का उद्देश्य स्वार्थ, भोग-विलास अथवा विषय-वासनाओं के साथ अहंकार तुष्टि की भावना से दूषित है, तो भी उपासना द्वारा भौतिक सफलताओं के लिए शक्ति सम्बल के रूप में ईश्वरीय अनुकम्पा की याचना करना असंगत हो उठेगा और आपकी वह उपासना असफल चली जाएगी। अस्तु, उपासना की सफलता को मूर्तिमान् रूप में देखने के लिए भावनाओं के सम्बन्ध में बहुत ही सतर्क, सावधान तथा यथार्थपूर्ण रहना ही होगा।

फिर भी उपासना के साथ इन सब बातों को जोड़ना, घटाना, उलझन और असमंजस से भरी मानसिक क्रियाएँ हैं। यदि उपासना जैसी पवित्र तथा पुनीत बात को इन सब बातों से सर्वथा पृथक ही रखा जाए तो अधिक माँगलिक होगा। उपासना का प्रयोजन तो मात्र आत्मा को परमात्मा के सान्निध्य में लाना ही है। जिस बात का लक्ष्य परमात्मा के सान्निध्य जैसी ऊँची वस्तुएँ हो उसके बीच में

सांसारिक कामनाओं जैसी निम्न स्तर की बात को लाना अपनी अनाधिकारिक पात्रता को सिद्ध करना ही है। यदि हम अपनी सांसारिक वितृष्णाओं, इन्द्रिय लिप्साओं और भौतिक कामनाओं को अमरत्व नहीं दे सकते और इन भवपाशों को धारण किए हुए ही परमात्मा का सान्निध्य प्राप्त करना चाहेंगे, तो यह किस प्रकार संभव हो सकता है? यह तो बड़े ही साधारण विचार की बात है।

ईश्वर का सान्निध्य प्राप्त करना है, आत्मा को परमात्मा से योजित करना अभीष्ट है, तो उपासना जैसे साधन और परमात्मा जैसे साध्य के बीच में किसी प्रकार की कामना जैसे व्यवधान को नहीं ही लाना होगा। यदि हमें सूर्य के दर्शन अपेक्षित है, दीपक का प्रकाश देखना है, तो बीच में आवरण को हटाना ही होगा। यदि हम चाहते हैं कि परमात्म तत्त्व की आनन्दमयी धारा हमारी आत्मा में निर्झरित हो तो सारी कामनाओं का व्यवधान हटाना होगा अन्यथा उपासना से आकर्षित होकर आई हुई वह पावन धार बीच में अवस्थित कामनाओं के व्यवधान से टकरा कर इधर-उधर बह जाएगी और आत्मा उससे वंचित ही रह जाएगी।

सच्ची, उन्नत और आदर्श उपासना तो तभी होगी, जब हम सर्वथा निष्काम और निष्प्रयोजन ही रहें। यहाँ तक कि परमात्मा की कृपा की भी कामना न करें। इतनी उन्नत निष्काम उपासना से आत्मा न केवल परमात्म तत्त्व के आनन्द की अधिकारी बनती है, बल्कि परमात्म रूप ही हो जाती है। आत्मा तो यों भी परमात्मा का ही रूप है। केवल जीव ने अपनी भौतिक वितृष्णाओं का आवरण डालकर अपना स्वरूप भुला दिया है। यह असंगत आवरण हटाइए, आत्मा परमात्मा रूप हो जाएगी जो स्वयं आनन्द रूप परमात्म स्वरूप है, उस आत्मा के लिए परमात्मा की अनुकम्पा की याचना भी क्या। उपासना द्वारा आत्मा को उसका सत्य स्मरण कराइये, परमात्मा के समीप जाइये अर्थात् आत्मा में सत् तत्त्व की अनुभूति कीजिए और देखिए कि अपना स्वरूप पहचानने लगती है या नहीं।

इस स्मरण के लक्षण यह हैं कि जब कामनाओं की कमी, वासनाओं का निरोधान, स्वार्थ का शमन और परमार्थ का विकास होने लगे, तब समझना चाहिए कि आत्मा में स्मरण के क्षण आने लगे हैं और जब उसको संसार के सारे प्राणी, संसार के सारे पदार्थ और संसार के सारे सुख-दुःख अपने और अपनी अनुभूतियाँ विदित होने लगें, तब जानना चाहिए कि आत्मा ने अपने सत्य स्वरूप की ओर यात्रा प्रारम्भ कर दी है और जब यही अनुभव विशाल से विशालतम होकर विराट्ता में विकसित हो जाए और यह निखिल ब्रह्माण्ड में अनुभूत होने लगे, शरीर, मन, चित्त, अहंकार, बुद्धि विवेक आदि के साथ इनकी सारी वृत्तियाँ विस्मृत होकर केवल आत्म-ज्ञान—आत्म-ज्ञान ही शेष रह जाए, तब समझना चाहिए कि आत्मा अपने सत्य-स्वरूप में आ गया है और अब शीघ्र ही मुक्त होकर वह परमात्मा से मिलकर उसी का रूप बन जाएगा।

यह उन्नत स्थिति, यह सत्य स्वरूप और यह साम्राज्य उपासना द्वारा सर्वथा संभव है; किन्तु इसके लिए समय और धैर्य के साथ सतत् साधना की आवश्यकता है। थोड़ी-थोड़ी उपासना करते चलिए। एक-एक करके अपनी कामनाओं को थिराते और वासनाओं को छोड़ते चलिए। साधना पूरी होगी तो सिद्धि स्वयं आ उपस्थित होगी। इस जन्म में नहीं अगले में और अगले में नहीं तो उसके बाद में। साधना की न तो कोई अवधि है और न इतनी बड़ी उपलब्धि के लिए कोई भी कालावधि अधिक है।

मनुष्य जीवन अक्षय और अनन्त है। जल-बुलबुले की तरह यह शरीर न जाने कितनी बार बनता और बिगड़ता रहेगा पर अनादि जीवन का प्रवाह अनन्त रूप से यो हीं बहता चला जाएगा। महत्त्व शरीर का नहीं, महत्त्व है उसमें बन्दी आत्मा का जिसे उपासना द्वारा मुक्त करना ही है और जो प्रयत्न द्वारा एक दिन मुक्त की भी जा सकती है।

□

उपासना फलवती कैसे हो?

उपासना का मुख्य उद्देश्य है ईश्वर से सान्निध्य प्राप्त करना। कोई भी व्यक्ति जिस समय तक पूजा, अर्चा, स्तवन, जप, ध्यान, कीर्तन आदि की उपासना विधि में निरत रहता है उतनी देर तक यही अनुभव करता रहता है कि परमात्मा उसके पास है अथवा वह परमात्मा के निकट है और वह यह जो कुछ कर या करा रहा है वह सब परमात्मा के लिए है। परमात्मा उसकी पूजा स्वीकार कर रहा है और उसकी विनय अथवा कीर्तन सुन रहा है। इस प्रकार उपासना के समय तक उपासक भावनात्मक रूप से परमात्मा के सान्निध्य में ही रहता है।

यों तो परमात्मा अणु-अणु में परिव्याप्त है। घट-घट में निवास कर रहा है। कोई भी स्थान उससे रिक्त नहीं है। हर स्थान में वह सदा-सर्वदा विद्यमान रहता है। क्या उपासक और क्या उपासना सामग्री सभी में परमात्मा हर समय उपस्थित रहता है। ऐसा नहीं कि उपासना-काल में ही वह उपासक के समीप अथवा उपासक उसके समीप रहता हो और अन्य समय में नहीं। वह हर समय, हर एक के पास, हर स्थिति में कोई भी काम करते समय भी बना रहता है। वरन् सर्वकाल सर्वव्यापक रहता है। यदि विशेष उपासना विधि से भिन्न भी अपने हर काम को परमात्मा को सौंप दे, हर काम उसी का जाने-समझे और हर क्रिया को उपासना जैसी श्रद्धा एवं आस्था से करे, तो मनुष्य के साधारण नित्य नैमित्तिक कार्य ईश्वर की उपासना के रूप में बदल जाए और उसी की तरह शांति, संतोष तथा आनन्द के पुण्यफल प्रदान करने लगें; किन्तु यह बहुत सरल होने पर भी बहुत ऊँची और दूर की बात है। जन साधारण का मनोविकास अभी इस स्तर तक नहीं पहुँच सका है।

सर्वव्यापक परमात्मा की सर्वकर्मक उपासना के योग्य मनःस्थिति आने तक विशेष प्रकार से निर्धारित समय में उपासना

करते रहना दैनिक जीवन के लिए तो मंगलमय है ही सर्वकर्मक उपासना के योग्य मनोविकास प्राप्त करने के लिए भी आवश्यक है।

मनुष्य के लिये रोटी–रोजी की केवल शारीरिक आवश्यकताएँ अथवा समस्याएँ ही तो नहीं है। उसकी कुछ मानसिक, आत्मिक अथवा आध्यात्मिक आवश्यकताएँ एवं समस्याएँ भी है, जिन्हें हल करना न केवल उतना ही जरूरी है जितना कि शारीरिक आवश्यकताओं को, बल्कि उनसे कहीं अधिक अनिवार्य है और यदि सच पूछा जाए तो मनुष्य की वास्तविक आवश्यकताएँ एवं समस्याएँ आत्मिक अथवा आध्यात्मिक ही हैं। शारीरिक समस्याएँ तो उनकी अनुपूरिका मात्र ही हैं। यदि मनुष्य एक बार अपनी आध्यात्मिक समस्याएँ हल करले, तो शारीरिक समस्याएँ रह ही न जाए। शारीरिक समस्याएँ शरीर रक्षा के लिए ही तो हल करनी पड़ती है और शरीर रक्षा का अर्थ है उसमें ओतप्रोत चेतना को सुरक्षित रखना। चेतना रहित मृत शरीर से न तो किसी को कोई सम्बन्ध रहता है और न कोई उसकी रक्षा करता है। शरीर से मनुष्य का सम्बन्ध चेतना तक ही होता है। यही चेतना वह आत्मा है जिसके कारण शरीर की महत्ता है और शरीर रक्षा के मिस (बहाने) से मनुष्य उसकी रक्षा करता है, उसको ही पालता पोषता और सेवा करता है। इस प्रकार की आवश्यकताएँ आत्मा को ही हैं शरीर आदि की नहीं। यदि एक बार आत्मा की आवश्यकताएँ एवं समस्याएँ हल कर ली जाएँ तो शरीर से लेकर संसार की सारी आवश्यकताएँ एवं समस्याएँ स्वयं ही शमन हो जाएँ।

रोटी, कपड़ा, बास, निवास, पुत्र, कलत्र आदि आत्मा की आवश्यकताएँ नहीं है। आत्मा की केवल एक आवश्यकता है कि उसे संसार बन्धन से मुक्त कर उसके अंशी परमात्मा में लीन कर दिया जाए। इस आत्मिक–आवश्यकता पूर्ति के लिए प्रचारित प्रयत्न–पद्धति को ही अध्यात्म अथवा आध्यात्मिक जीवन कहते हैं; किन्तु खेद है कि अविद्यावश हम जीवों ने शरीर को ही मुख्यता दे रक्खी है

और उसकी आवश्यकताओं को पूरा करते रहना जीवन लक्ष्य मान लिया है। शरीर के माध्यम से आत्मा की सेवा करना भूलकर हमने शरीर-सेवा को ही सब कुछ समझ लिया है। जीवन की वास्तविक आवश्यकता एवं परम लक्ष्य आत्मा की मुक्ति की ओर तो हमारा ध्यान ही नहीं जाता। इन्द्रियों के भोग तथा वासनाओं की तृप्ति तक ही हमने अपने प्रयत्नों को नियुक्त कर रक्खा है। जब कि हम जन्म-जन्मान्तरों से न तो इनकी तृप्ति कर सकने में सफल हो रहे हैं और न अगले जन्म-जन्मान्तरों तक ही सफल हो सकेंगे; क्योंकि संसार की विषय वासनाएँ अतृप्तिशीला होने के साथ-साथ मिथ्या-रंजिनी हैं। इनमें दीखने वाली सुख की छाया को पकड़ने का प्रयास करना उसी प्रकार बाल-प्रयत्न है, जिस प्रकार आकाश में उड़ते पक्षी की पृथ्वी पर पड़ती हुई छाया को पकड़ना अथवा झरोखे से आती हुई प्रकाश धारा को घड़े में भरना। छाया आखिर छाया ही है-भ्रम है। जीवन भर प्रयत्न करते रहने पर भी उसे ग्रहण नहीं किया जा सकता। आज हम सब इसी बालबुद्धि के कारण सच्चिदानन्द स्वरूप मूल आत्मा को पाने का प्रयत्न न करके शरीर रूपी नीर में प्रतिबिम्बित इन्द्रिय भोग द्वारा मिथ्या सुख की छाया ग्रहण करने का विफल प्रयत्न करते हुए अपने बहुमूल्य मानव जीवन को निरर्थक एवं निःसार बना रहे हैं।

परोपकार एवं लोक-कल्याण के लिये शरीर धारण एवं निवारण करने वाले ऋषि-मुनियों ने मनुष्य की मूल समस्या, आत्मा की बन्धन-मुक्ति को समझा और चिरंतन-चिन्तन के आधार पर उसका हल भी निकाल लिया। उन्होंने अपने तप एवं योगबल से जान लिया कि आत्मा एवं परमात्मा एक ही तत्त्व के स्थानीय दो नाम हैं। परमतत्त्व का जो अंश, घट में आकाश खण्ड की भाँति शरीर में सीमित है वह आत्मा और उसका मुक्त, विभु, विराट् व्याप्त एवं अपरम्पार परिसर परमात्मा की संज्ञा से अभिज्ञात है। आत्मा अथवा परमात्मा किसी का भी चिन्तन, सान्निध्य अथवा साक्षात्कार आत्मा की मुक्ति का ही हेतु है।

सच्ची भावना के साथ की हुई उपासना चमत्कार की तरह फलवती होती है। भावना को परमात्मा में पूर्ण रूप से, संयोजित करके कुछ देर की की हुई उपासना जीवन पर एक स्थायी प्रभाव डालती है जो कि उत्कृष्ट विचारों, निर्विकार स्वभाव तथा सत्कर्मों के रूप में परिलक्षित होता है। उपासना करता हुआ भी जो व्यक्ति गुण, कर्म, स्वभाव एवं मन वचन कर्म से उत्कृष्ट नहीं बना तो यही मानना होगा उसने उपासना की ही नहीं, केवल वैसा करने का नाटक किया है।

भजन-पूजन अथवा जप-कीर्तन करने के समय तक भी मनुष्य अपने पास अपने हृदय अथवा अपनी चेतना में परमात्मा की समीपता अनुभव करता रहे तो उतनी देर की वह समीपता आनन्द एवं उत्साह के रूप में दिन भर अनुभव होती रह सकती है। उपासना के समय जितनी-जितनी गहराई के साथ अपनी मानसिक भावना को परमात्मा में संयोजित किया जाएगा यह अनुभव उतनी-उतनी ही गहराई से जीवन में उतरता और स्थिर होता जाएगा और एक दिन ऐसा आ जाएँगा कि मनुष्य अपने में तथा अपने से बाहर उस परमपिता को हर समय ओत-प्रोत देखने लगेगा।

ऐसी स्थिति आ जाने पर मनुष्य का आत्मोद्धार निश्चित है। उसके गुण, कर्म, स्वभाव परमात्मा जैसे पावन प्रभु के सामीप्य के योग्य उत्कृष्ट एवं पवित्र हो जाएगे। सामीप्य की स्थायी एवं स्पष्ट अनुभूति होने से उसे असंदिग्ध विश्वास हो जाएगा कि परमात्मा सर्वत्र व्यास है, कोई भी प्रच्छन्न अथवा प्रकट स्थान उससे रहित नहीं है। वह अन्तर्यामी और घट-घट की जानने वाला है। परमात्मा की उपस्थिति का विश्वास होने पर प्रथम तो मनुष्य स्वाभाविक रूप से बुरा करेगा ही नहीं और यदि फिर भी वह धृष्टतापूर्वक ऐसा करता है तो उसे अपने इस जघन्य अपराध का कितना और कैसा यातनापूर्ण दण्ड मिलेगा इसकी कल्पना नहीं की जा सकती।

उपासना का उद्देश्य केवल इतना ही है कि उसके द्वारा परमात्मा का अधिकाधिक सान्निध्य प्राप्त किया जाए जिससे कि उस परमपिता की वह कृपा पाई जा सके जो हमारी आत्मा की मुक्ति का हेतु बन सके और ऐसा तभी सम्भव हो सकता है जब हमारी उपासना निर्लोभ एवं निष्काम हो और हमारे जीवन की रीति-नीति एवं गतिविधि उपासना के अनुरूप ही महान् एवं पावन हो।

उपासना—अन्तःकरण की गहराई से

मानव जीवन के लाभों में सबसे बड़ा लाभ यह है कि उसे परमात्मा का ज्ञान प्राप्त हुआ है। वह इस मानव योनि में ही आकर यह जान सका है कि इस निखिल ब्रह्माण्ड को धारण तथा सञ्चालन करने वाली एक सत्ता है, जिसे परमात्मा नाम से अभिज्ञान किया जाता है और हमारा उससे निकट का सम्बन्ध है। यही क्यों, कहना चाहिये कि हम उसके ही एक रूप हैं। उसी की शक्तियाँ और उसी की विशेषताएँ मानवता के रूप में हममें काम कर रही हैं।

मानव के अतिरिक्त संसार में और भी असंख्यों जीव तथा प्राणी है; पर उनमें से किसी को भी परमात्मा का ज्ञान नहीं है। परमात्मा का ज्ञान तो दूर वे अपनी आस-पास की प्रकृति के सम्बन्ध में भी जानकार नहीं होते। विवेक, जिसके आधार पर परमात्मा को जाना गया है और आगे भी जाना जाएगा, मनुष्येत्तर प्राणियों को नहीं होता। यह सौभाग्य एकमात्र मनुष्य को ही प्राप्त हो सका है; क्योंकि यह प्राणियों की सर्वोच्चकोटि है। चौरासी लाख नगण्य योनियों में भटकने और ठोकर खाने के बाद हम मनुष्यों को यह सर्वोच्च कोटि प्राप्त हुई है।

इस सर्वोच्च कोटि मिलने का भी एक रहस्य है। वह यह कि यह जीवन एक ऐसा अवसर है जिसका सदुपयोग करके मनुष्य अपने आदि स्रोत परमात्मा को पा सकता है, उसमें तद्रूप हो सकता है और तब उसके बाद यह जीवन-मरण की यात्रा समाप्त हो जायेगी। यदि हम मनुष्य इसी जन्म में अपनी साधना और सत्कर्मों

द्वारा उस परमात्मा को पाने का प्रयत्न प्रारम्भ नहीं कर देते तो निश्चय ही हमको न जाने कौन-सी आदि योनि में चौरासी लाख की यात्रा पूरी करने के लिये जाना होगा और न जाने उसे पूरा करने में कितने युगों तक अधमता की यातना सहना पड़े। हाँ यदि हम अपने इस जीवन में परमात्मा को प्राप्त करने का उपाय शुरू कर दें तो, यदि इस जीवन में उसको न भी पा सके तो भी यह क्रम आगे भी चलता रहेगा और अपना प्रयत्न आगे बढ़ाने के लिये हमें पुनः मनुष्य योनि ही प्राप्त होगी। इस प्रकार एक नहीं अनेक जन्मों के प्रयत्न से हम एक दिन परम पिता परमात्मा को प्राप्त कर ही लेंगे। किन्तु यदि प्रारम्भ न किया गया तो लक्ष्य की प्राप्ति सर्वदा असम्भव बनी रहेगी।

परमात्मा की प्राप्ति के उपायों में एक सबसे सरल और सुबोध उपाय है-उपासना। यदि नित्य-प्रति मनुष्य थोड़ी बहुत उपासना करते चले तो संसार के सारे काम करते हुये भी लक्ष्य की ओर उसकी यात्रा होती रहे और जिस प्रकार बूँद बूँद करके घट भर जाता है, एक-एक गिनकर सौ तक पहुंच जाते हैं और कदम-कदम चलकर कोस पूरा कर लेते हैं उसी प्रकार उपासना द्वारा दिन-दिन रेंगते हुये भी हम जन्म-जन्मान्तरों में से किसी भी चाल से अपने लक्ष्य परमात्मा को प्राप्त कर लेंगे।

उपासना का कोई एक ही प्रकार निश्चित नहीं है। यह बहुत प्रकार से हो सकती है। जैसे विधि-विधान पूर्वक कर्मकाण्ड करना, समस्त आडम्बरों सहित पूजा करना, वेदों, पुराणों तथा शास्त्रों का परायण करना, भजन कीर्तन और प्रार्थना करना। योग, ध्यान और जप करना। संतों, ज्ञानियों तथा महात्माओं का सत्संग करना- इस प्रकार त्याग, तपस्या आदि न जाने उपासना के कितने प्रकार एवं स्वरूप हैं। यदि कहना चाहें तो सारांश में यों भी कह सकते हैं कि वे सारी शारीरिक, मानसिक तथा वाचिक क्रियाएँ उपासना ही हैं जिनका विषय अध्यात्म अथवा परमात्मा है। इसी प्रकार सत्कर्म समाज-सेवा, आत्म-सुधार, सृजन तथा अनुशासन, शिष्टाचार आदि सारे

काम तथा भाव उपासना के अन्तर्गत आते हैं। स्वार्थ के अतिरिक्त जितना भी पारमार्थिक प्रसंग है वह सब उपासना के अन्तर्गत ही आता है। अब इनमें से कोई भी अपनी सुविधा, सामर्थ्य तथा स्थिति के अनुसार चुना जा सकता है।

हम सभी जानते हैं कि परमात्मा एक देशीय न होकर सर्वव्यापक है। कोई भी स्थान उससे रिक्त नहीं है। वह हर समय हर स्थान पर विद्यमान रहता है। इसी प्रकार वह संसार की प्रत्येक वस्तु और क्रिया में वर्तमान है और सर्वदा रहेगा। संसार की गोचर-अगोचर कोई वस्तु, सूक्ष्म अथवा स्थूल, कोई भी व्यक्ति, कोई भी प्राणी ऐसा नहीं है जिसमें परमात्मा का निवास न हो। इसी प्रकार मनुष्य की अथवा प्रकृति की कोई भी गोचर अथवा अगोचर क्रिया ऐसी नहीं है जिसमें उस सर्वव्यापक और उस प्रेरक परमात्मा की साक्षी न होती हो। वही सब कहीं, सब बातों में, सब समय मौजूद रहता है। जिस प्रकार उपासना-क्रियाओं में परमात्मा का भाव और तदनुरूप पवित्रता रक्खी जाती है, यदि उसी प्रकार मनुष्य अपने जीवन की प्रत्येक अन्य क्रिया में भी यही भाव एवं पवित्रता रक्खे और जिस प्रकार अपनी पूजन सामग्री परमात्मा को समर्पित करता है उसी प्रकार अपने सर्वस्व में भी समर्पण का भाव रक्खे तो उसकी अणु-अणु क्रिया ही उपासना के रूप में बदल जाये और वह हर समय परमात्मा का सामीप्य अनुभव करता रहे। उसका समग्र जीवन ही उपासना रूप हो जाये। ऐसी दशा में वह जीवन-काल ही में जीवन मुक्त हो जाये। उसे अपना लक्ष्य पाने के लिये फिर न तो अलग से कोई क्रिया-कलाप करना पड़े और न जन्म-जन्मान्तर की प्रतीक्षा ही करनी होगी। वह एक इस ही जीवन में परमात्मा को पाकर मुक्ति, मोक्ष अथवा निर्वाण की स्थिति में पहुँच जाये।

आज जब हमने जन्म-जन्मान्तर की यातना तथा साधना के बाद इस मानव-जीवन में आकर परमात्मा की सत्ता का ज्ञान पा लिया है और यह भी जान लिया है कि हम उसी परमात्मा के एक

अंश हैं तो इससे बड़ी मूर्खता और क्या हो सकती है कि हम अपने उस सत्य स्वरूप को पाने का प्रयत्न न कर पुनः असंख्यों अधम योनियों में भटकने के लिये वापस चले जायें। उसे पागल के सिवाय और क्या कहा जा सकता है जो जिन कक्षाओं को उत्तीर्ण कर चुका है उन्हीं में वापस जाने की मति पैदा करे। उच्च पद पर से पतित हो जाने से बढ़कर जीवन की असफलता और क्या हो सकती है? पर यदि हम परमात्मा को पाने के लिये उपासना के उपाय में नहीं लगते तो निश्चय ही जीवन की असफलता की आशङ्का बनी हुई है।

हमारा प्रत्येक भाव, विचार, क्रिया और वस्तु उपासना का स्वरूप बन जाये—इस उच्च स्थिति को पाने तक हमारा पावन कर्त्तव्य है कि हम प्रति दिन सच्चे और गहरे मन से परमात्मा की थोड़ी-थोड़ी उपासना तो करते ही चलें। यह थोड़ी-थोड़ी उपासना भी जब हमारे जीवन में अनिवार्य आवश्यकता बनकर हमें अपने अभाव में सताने लगेगी तब इसी उपासना में एक आनन्द, एक विह्वलता और एक कातरता का समावेश होने लगेगा। इस भावसघन संक्षिप्त उपासना का प्रभाव तब हमारे दिन के एक लम्बे समय तक बना रहेगा और हम उतनी देर तक परमात्मा का सामीप्य करते रहेंगे। इसी प्रकार यह संक्षिप्त उपासना ज्यों-ज्यों परिपक्व तथा आत्मसात् होती जायेगी त्यों-त्यों उसका प्रभाव विलम्बित एवं स्थायी होता जायेगा और यदि उपासना में अपने हृदय की गहराई और ईमानदारी अधिकाधिक बढ़ाई जाती रहे तो जरा भी असंभाव्य नहीं कि इसी संक्षिप्त उपासना द्वारा हम जल्दी ही उस कक्षा में जा पहुँचे, जहाँ पहुँच कर स्वयं अपने के साथ सारा संसार परमात्मामय और परमात्मा संसारमय गोचर होने लगता है और अपनी क्रिया-प्रक्रिया, भाव, विचार और श्वास-श्वास तक परमात्म रूप अनुभव होने लगती है।

□

सच्ची उपासना का स्वरूप

उपासना में आनन्द कब नहीं आता? जब कोई मनुष्य उसे सामान्य जीवन क्रम से भिन्न एक विशेष कर्त्तव्य समझकर करता है। ऐसा भाव रहने से कुछ समय बाद उपासना उसे एक अनावश्यक बेगार-सी अनुभव होने लगती है, जिससे वह आनन्द अनुभव करने के स्थान पर थकान अनुभव करने लगता और कुछ ही समय में उसे छोड़छाड़ कर बैठ जाता है।

मनुष्य का सहज स्वभाव है कि जो कार्य उसके जीवन-क्रम में रमे नहीं होते अथवा जिनका वह अभ्यस्त नहीं होता उनके करने में वह खिन्नता ही अनुभव करता है। यहां तक कि रोजमर्रा के बँधे टके कामों में भी यदि कोई काम आकस्मिक आवश्यकतावश बढ़ जाता है तो वह उसे करता भले ही है, किन्तु एक बेगार, एक बोझ की तरह।

यही नियम उपासना के विषय में भी लागू रहता है। अतएव उपासना जीवन-क्रम से भिन्न किसी विशेष कर्त्तव्य की भाँति नहीं, जीवन-क्रम के एक अभिन्न अंश की भाँति करना चाहिये। उपासना जब जीवन का एक आवश्यक अंग बन जाती है तो उसकी पूर्ति करने में वैसी ही तृप्ति होती है। जैसी अन्य आवश्यकताओं की पूर्ति में। जीवन का अंग बना उपासना को जब तक पूरा नहीं कर लिया जाता तब तक हृदय में उसी प्रकार की छटपटाहट रहती है जैसे किसी प्रियतम से मिलने की इच्छा में। उपासना मनुष्य जीवन का एक अभिन्न अंग है। उसे इसी रूप में ग्रहण करना चाहिये। उपासना को किसी विशेष कर्त्तव्य के रूप में ग्रहण करने से भिन्नता का भाव रहता है। पूरे समय यह विचार घेरे रहता है कि मैं कोई विशेष काम अंजाम दे रहा हूँ, जिसके कारण उसमें एकाग्रता प्राप्त नहीं हो पाती, जिसके अभाव में उसमें अपेक्षित आनन्द की उपलब्धि नहीं होती! स्वाभाविक है कि जिस कार्य में अरुचिपूर्ण निरानन्दता रहती है वह

देर तक नहीं चल पाता, और यदि खींच-तान कर चलाया भी गया तो उसमें किसी बड़े फल की अपेक्षा नहीं की जा सकती।

उपासना में तब भी कोई आनन्द नहीं आता जब वह किसी लाभ अथवा लोभ के लिये की जाती है। किसी स्वार्थ के वशीभूत होकर जब उपासना की जाती है तब उपासक का ध्यान इष्ट के प्रति लगा रहने के स्थान पर अभीष्ट के प्रति लगा रहता है। जिससे भावनाओं का वेग इष्ट की ओर उन्मुख रहने के बजाय लोभ की ओर गतिवान रहता है। इससे इष्ट की समीपता प्राप्त होने के बजाय लोभ को बल मिलता है जिससे वह उत्तरोत्तर दुर्निवार होता जाता है और कल्याणवती उपासना प्रतिकूल दिशा में फलीभूत होने लगती है। मनुष्य लोभ, लाभ, स्वार्थ एवं कामनाओं का भंडार बन कर स्वयं अपने लिये भयंकर बन जाता है।

इस प्रकार के संभ्रमित उपासक अपनी सकामता के कारण जब दुखद दुरितों के शिकार बन जाते हैं तब उपासना अथवा इष्ट को दोष देकर यह धारणा बना लेते हैं कि अधिक पूजा, पाठ करने वाला दुःख, दरिद्रता और दीनता का भागी बनता जाता है। इस प्रकार की धारणा भयङ्कर भूल है।

जो उपासक दीन, दुखी, दरिद्री अथवा हीन दिखाई दे, उसके विषय में निस्संकोच समझ लेना चाहिये कि इसकी उपासना में लोभ क्रियाशील है। इसकी वंचक उपासना ने ही इसको इस दशा में भेजा है। अन्यथा उपासना का फल है—तेजस्विता, ओजस्विता, सबलता, सम्पन्नता आदि का दिव्य गुण।

इसके अतिरिक्त सकाम उपासक की उपासना निस्सार होकर बहुत समय तक नहीं चल पाती। वह दिन प्रति दिन साधना को कामनाओं की कसौटी पर कसता रहता है, और जब उसकी कामनाएँ फलीभूत होती नहीं दीखतीं तो वह धीरे-धीरे उपासना से ऊबने लगता है और शीघ्र ही निरर्थक कार्य समझ कर उससे विरत हो जाता है। कामनाओं के कारण उपासना से विरत हुआ उपासक

मृत्यु से भयभीत और जीवन से निराश कायर की तरह त्रासपूर्ण जिन्दगी बिताता है।

उस उपासना की निरन्तरता निरापद नहीं है जो एक विस्तृत कर्मकाण्ड और आडम्बर पर आधारित होती है। एक तो इस प्रकार की उपासना के लिये एक लम्बे समय की आवश्यकता है, जिसका मनुष्य के व्यस्त जीवन में प्राय: अभाव ही रहता है। दूसरे बहुत प्रकार के उपकरण एवं उपादान एकत्र करने में काफी धन की आवश्यकता है। आज के महार्घ जीवन में जीवन की सीमन्त आवश्यकतायें ही जुटाना कठिन हो रहा है, तब मँहगी उपासना को मनुष्य कब तक चला सकता है?

ऐसी उपासना सम्पन्न करने के लिये एक सामान्य स्थिति के व्यक्ति को अपने पारिवारिक व्यय में कुछ कोताही करनी पड़ेगी। जिससे उसको तथा उसके परिवार को प्रत्यक्ष में न सही परोक्ष में तो कुछ न कुछ तकलीफ होगी ही। उपासना के लिये खर्च जुटाने में उसे अपना ध्यान घर के बजट में कतरव्योंत करने में लगाना पड़ेगा। इस प्रकार उक्त मंहगी उपासना एक आर्थिक योजना बनकर रह जायेगी, जिससे आत्मिक शान्ति के स्थान पर मानसिक उद्विग्नता बढ़ सकती है और ऐसी स्थिति में उपासना का दीर्घकाल तक चल सकना संदिग्ध होगा।

उपासना के लिये अधिक आडम्बर भी ठीक नहीं। असामान्य रूप में रहने वाला उपासक समाज में अन्यथा दृष्टिकोण से देखा जाता है। कोई उसे कौतूहल की दृष्टि से, कोई आदर की दृष्टि से, तो कोई उपासक की दृष्टि से देखता है। इससे उपासक की मानसिक स्थिति जब तक अपेक्षित कोटि में न पहुँच जाए, उस पर उसके मानसिक भावों पर वांछित प्रभाव नहीं पड़ता। समाज में सांकेतिक स्थल बनकर कभी वह हर्ष और कभी अमर्ष के वशीभूत होकर आंदोलित होता रहता है जो कि उसकी साधना के लिये हितकर नहीं होता।

इसके अतिरिक्त आडम्बरित साधक स्वयं भी समाज में अपने को एक विशिष्ट व्यक्ति अनुभव करता है, अपने को जन-साधारण से कुछ अधिक पवित्र समझता है। कभी-कभी आडम्बर की अपेक्षा से उसे अपने इस भाव की अभिव्यक्ति भी करनी होती है। अपने को विशिष्ट अथवा कुछ ऊँचा अनुभव करने के कारण उसमें अहंकार की वृद्धि हो जाती है जो उपासना के अमृत में विष का काम करता है।

अन्दर से असामान्य होने पर भी बाहर से सहज सामान्य रहना ही उपासक के लिये अधिक हितकर है। अपने स्वभाव एवं संस्कारों के कारण जन-साधारण आडम्बर के प्रति अधिक आकर्षित होता है जिससे उपासक भावनाओं की अपेक्षा लोकप्रियता के लोभ में फँसकर आडम्बर की ओर अधिक ध्यान देने लगता है।

समय एवं साधना का असंयम भी ऐसा कारण है जो उपासक में वाँछित गम्भीरता नहीं आने देता मन और मस्तिष्क पर वे अपेक्षित संस्कार नहीं पड़ने देता जिनके बल पर उपासना में निरन्तरता आती है और उपासक अध्यात्म लाभ की ओर अग्रसर होता है। कभी किसी समय उपासना करना उसी प्रकार की धार्मिक अथवा आध्यात्मिक अनियमितता है जिस प्रकार आहार-विहार की इस प्रकार की अनियमित उपासना व्यक्ति को विशुद्ध आध्यात्मिक न बनाकर आध्यात्मिक रोगी बना देती है जिससे किसी सुख शान्ति की आशा करना असामान्य कल्पना मात्र ही होगी।

उपासना में इष्ट की अदला-बदली का अर्थ है कि आप उसकी गरिमा को कोई महत्त्व न देते हुए दैवी शक्तियों के साथ खिलौनों की तरह खेलते हैं। उनका महत्त्व आपकी रुचि पर निर्भर है। साथ ही इष्ट की अदला-बदली से यह भाव भी प्रकट होता है कि आप किसी एक दैवी विभूति को किसी दूसरी से कम या ज्यादा समझते हैं। उपासना के क्षेत्र में विषमता का यह भाव सबसे अधिक घातक है। इस प्रकार की चेष्टा से मानसिक चांचल्य की वृद्धि होती

है, जिसके कारण न उपासना में मन स्थिर हो पाता है और न उसका कोई फल होता है।

निष्काम भाव से किसी भी एक इष्ट में सर्वेश्वर की सत्ता का विश्वास रख कर एक विधि एक मन से जीवन का अभिन्न अंग समझकर संयम एवं सामान्यतापूर्वक नियमित उपासना करना ही वास्तव में उपासना है, जो जीवन भर चलती भी और फलवती होती है।

परमात्मा का सान्निध्य और सम्पर्क साधें

दुःख मनुष्य की स्वाभाविक अनुभूति नहीं है। उसकी स्वाभाविक अनुभूति सुख है। यदि मनुष्य की स्वाभाविक अनुभूति दुःख होती तो मानव मात्र हर समय रोते, कलपते ही नजर आते। पर ऐसा होता नहीं। हर मनुष्य अपने जीवन में अधिकांशतः हँसता, खेलता और मौज मनाता हुआ दिखाई देता है। दुःख मनाता हुआ तो वह यदा-कदा ही दिखलाई देता है। दुःख के प्रसङ्गों में भी वह सुख, शांति और सन्तोष के सूत्र निकाल लिया करता है। बड़े से बड़े आघात को भी वह एक दिन, दो दिन, माह दो माह में भूल जाता है और उसका शोक-सन्ताप धीरे-धीरे शीतल हो जाता है।

यदि मनुष्य की स्वाभविक अनुभूति दुःख होती तो वह हर समय दुःखी ही बना रहता। और तब ऐसी स्थिति में उसका कुछ दिन भी जीवित रह सकना सम्भव न होता। इसके विपरीत वह एक लम्बी आयु तक जीता-खुशी खुशी जीता है।

मनुष्य परमात्मा का अंश है। परमात्मा आनन्दस्वरूप है। अस्तु मनुष्य की सहज अनुभूति, सुख होना असंदिग्ध रूप से प्रमाणित है।

तब आखिर वह यदा-कदा भी दुःखी क्यों दिखलाई देता है? इसका कारण है। वह यह कि जब मनुष्य अपने स्वरूप को भूल जाता है? तब वह किन्हीं परिस्थितियों से प्रभावित होकर दुःखी दीखने लगता है। सब कुछ होने पर भी मनुष्य में विस्मरणशीलता

की एक प्रवृत्ति रहती है। किन्तु यह प्रवृत्ति बुरी नहीं कही जा सकती। यदि मनुष्य का स्वभाव चिर-स्मरणशील हो तो एक बड़ी समस्या खड़ी हो जाये। मनुष्य जीवन में ऐसी न जाने कितनी घटनाएँ आ जाती हैं, जो दुःखद होती हैं। यदि मनुष्य मस्तिष्क में विस्मरण की प्रणाली न बनी हो तो वे दुःखद घटनाएँ बहकर बाहर न जा सकें और हर समय मस्तिष्क में जागरुक रहकर उसे पागल ही बना डालें।

अप्रिय घटनाएँ एक-एक कर इतनी जमा हो जाएँ कि फिर वह उनसे एक क्षण भी अवकाश नहीं पा सकता। उसके मस्तिष्क में पुरानी स्मृतियाँ इतनी अधिक मात्रा में जमा हो जायें कि नई बातें सुनने, समझने, सोचने और ग्रहण करने के लिये स्थान ही न रह जाये, जिसके परिणाम स्वरूप मनुष्य का विकास ही रुक जाये। अपनी इसी विस्मरणशीलता के कारण वह अपना आनन्दस्वरूप भूला रहता है।

जिस प्रकार मनुष्य अपनी आँखों से अपनी आँखें नहीं देख सकता और उन्हें देखने के लिये दर्पण का सहारा लेना पड़ता है। ठीक उसी प्रकार अपना स्वरूप स्मरण करने के लिये परमात्मा का स्मरण करना होगा। उसे जानकर ही हम अपने को सरलता पूर्वक जान सकते हैं।

यों तो कहने के लिये हम सब आस्तिक हैं। परमात्मा को जानते और मानते हैं। पर वास्तविकता यह है कि हम उसे जानते-मानते तो क्या उसकी एक अबूझ-सी छाया मात्र, एक धुँधली-सी, भूली, बिखरी-सी-स्मृति हमारे किसी कोने में पड़ी रहती है, जो यदा-कदा चमक भर जाती है। इतने मात्र को जानना नहीं कहा जा सकता। जानना तो तब माना जा सकता जब वह हर समय हमारे हृदय-पटल पर अङ्कित रहे, मनो-मन्दिर में विराजमान् बना रहे।

किन्तु यह सम्भव तभी हो सकता है, जब हम उसका बार-बार स्मरण करते रहें, उससे सम्पर्क बनाये रहें। जिन लोगों को हम कभी जानते थे, उनमें से बहुत से ऐसे लोग होंगे, जिनको हम

अब बिल्कुल भूल गये हैं। इसका एक मात्र कारण यही होता है कि या तो हम उनके सम्पर्क में नहीं रहते या बार-बार उन्हें याद नहीं करते रहे होते हैं। सामान्य उपभोग की वस्तुयें भी जब बहुत दिन तक हमारे व्यवहार में नहीं आतीं तो हमारे स्मृति पटल पर से उतर जाती हैं और हम उन्हें बिल्कुल भूल जाते हैं। विद्यार्थी प्रारम्भ में वर्णमाला या गिनती याद करता है। उसके पहले वह उनको जरा भी नहीं जानता था। पर बार-बार याद करते रहने पर एक दिन वे सब याद हो जाती हैं और तब तक बनी रहती हैं, जब तक उनसे किसी प्रकार का सम्पर्क बना रहता है। कुछ दिन को भी सम्पर्क हटा देने या याद न करने पर उसकी स्मृति बालक के मस्तिष्क से निकल जाती है। तथापि जब वह पूर्ण तन्मयता के साथ उन्हें आत्मसात् कर लेता है तो वे उसे आजीवन ही याद बनी रहती है।

स्मरण अथवा विस्मरण की जो बात किसी अन्य वस्तु अथवा व्यक्ति के विषय में है, वही परमात्मा के विषय में है। हम उसे बार-बार याद करते रहेंगे, तो वह हमारे मस्तिष्क में जीता, जागता रहेगा और जब हम उसे याद करना छोड़ देंगे तो वह हमें विस्मरण हो जायेगा।

जो वस्तु जितनी सूक्ष्म होती है, उसे हृदयंगम करने के लिये उतने ही सूक्ष्म, एकाग्र तथा निर्द्वन्द्व मनन, चिन्तन और स्मरण करने की आवश्यकता होती है। परमात्मा सूक्ष्माति-सूक्ष्म तत्त्व है, उसे साधारण और स्थूल बुद्धि से यदा-कदा मनन, स्मरण करने से हृदयंगम नहीं किया जा सकता। उसे हृदय की गहराई और सूक्ष्म विवेक द्वारा निरन्तर चिन्तन करने से ही धारण किया जा सकता है।

चिन्तन में हृदय की गहराई उसी के लिये आविर्भूत होती है, जिससे प्रेम होता है। प्रेमी के जीवन में उसका प्रियतम सांगोपांग रूप से ओत-प्रोत हो जाता है। उसकी सारी भावनाएँ और कर्मों की सीमा अपने प्रियतम तक केन्द्रित हो जाती है। वह उसी के लिये जीता और उसी के लिये मरता है। प्रियतम प्रेमी का सर्वस्व बन

जाता है और प्रेमी प्रियतम का रूप हो जाया करता है। तथापि यह प्रेम-भाव भी उसी के लिये उत्पन्न हो सकता है, जिसको सम्पूर्ण रूप से आत्म-समर्पण कर दिया जाये।

अस्तु, अपना स्वरूप जानने के लिये, परमात्मा का साक्षात्कार करने के लिये इस क्रम से चलना आवश्यक होता है—कि उसे सम्पूर्ण आत्म-समर्पण कर हृदय की गहराई से स्मरण किया जाये और यह स्मरण चिन्तन के आधार पर ही सम्भव हो सकता है। सतत् चिन्तन की सिद्धि तब ही सम्भव है, जब उपासना द्वारा परमात्मा के सम्पर्क में रहा जाये।

परमात्मा के प्रति विस्मरणशीलता दूर करने का उपासना से अच्छा और कोई उपाय नहीं है। जप, तप, पूजा, अर्चना आदि के जो भी विधान बनाए गये हैं, वे सब परमात्मा को अपने स्मृति-पटल पर बनाये रखने के लिये ही बनाये गये हैं। नित्य-प्रति जब नियत समय पर उपासना की जायेगी तो परमात्मा की स्मृति हृदय-पटल पर उसी प्रकार अङ्कित हो जायेगी, जिस प्रकार बार-बार याद करते रहने पर किसी बालक को गिनती अथवा पहाड़ा याद हो जाता है। किसी का सम्पर्क उसकी स्थायी याद के लिये सबसे बड़ा कारण है। हमें अपने परिवार और कुटुम्ब के लोग औरों की अपेक्षा अधिक याद क्यों रहते हैं? इसीलिये कि उनसे हमारा सतत् और घनिष्ठ सम्पर्क बना रहता है।

यह एक मनो-वैज्ञानिक सत्य है कि हम जिसके सम्पर्क में जितना अधिक आते हैं, उसके विषय में उतनी ही गहराई से जान जाते हैं। उसके वास्तविक स्वरूप से हमारा घनिष्ठ परिचय हो जाता है। कोई भी उपासना द्वारा जब परमात्मा के सतत् सम्पर्क में रहेगा तो अवश्य ही एक दिन उसके सत्य स्वरूप को जान ही जायेगा। परमात्मा को साक्षी करते ही उसे अपना सत्य स्वरूप स्मरण हो उठेगा। अपने आनन्द रूप सत्यस्वरूप को जानसे ही मनुष्य की

सारी दुःखद अनुभूतियाँ दूर हो जायेंगी और वह सदा-सर्वदा के लिये अपनी स्वाभाविक अनुभूति में स्थिर हो जायेगा।

सुख की अनुपस्थिति ही दुःख का कारण है। किन्तु इस प्रकार जब कोई आनन्द रूप हो जायेगा, तब उसके पास किसी भी परिस्थिति में दुःख का कोई प्रयोजन ही न रह जायेगा। उस स्थिति में सुख तो सुख, दुःख भी सुखरूप आभासित होने लगेगा।

संसार के समस्त आघातों को दूर करने के लिये अपने सहज एवं आनन्द-स्वरूप का स्मरण आवश्यक है। आत्मस्वरूप देखने के लिये परमात्मा रूप दर्पण अपेक्षित है, परमात्मा की प्राप्ति सूक्ष्म-चिन्तन एवं मनन द्वारा ही हो सकती है। चिन्तन की यह सूक्ष्मता हृदय की गहराई से और हृदय की गहराई प्रेम द्वारा और प्रेम की उत्पत्ति सम्पूर्ण आत्म-समर्पण द्वारा ही सम्भव है और इन सबका आदि सूत्र उपासना ही है। इस आध्यात्मिक क्रम को उपासना से प्रारम्भ कर दुःखों के आत्यन्तिक अभाव तक आसानी से पहुँचा जा सकता है।

किन्तु यह उपासना प्रगतिवती हो तभी सकती है, जब इसका स्वरूप विशुद्ध आध्यात्मिक होगा। जो परमात्मा को छोड़कर अन्य किसी प्रयोजन से पूजा पाठ या जप-तप किया करते हैं, उनकी वह उपासना वांछित दिशा में फलीभूत नहीं होती। यद्यपि लोग सुख पाने के लिए ही सकाम उपासना किया करते हैं, तथापि यह उल्टा प्रयत्न ही है। सकाम उपासना करने का अर्थ है, अपने जीवन में और अधिकाधिक दुःखों की इच्छा करना। एक तो कामनाएँ यों भी दुःख का बहुत बड़ा हेतु है। फिर यदि उपासना द्वारा किसी ने अपनी लौकिक कामनाओं की सिद्धि भी करली, तब भी उसके दुःखों का अन्त कदापि न हो सकेगा। वह धन-दौलत, पुत्र-पौत्र पायेगा, शक्ति और सम्बल का अर्जन कर लेगा। किन्तु वह सकाम उपासक यह कभी नहीं सोचता कि इन सब लौकिक लाभों के उपयोग अथवा उपभोग का परिणाम क्या होगा, वही विस्मरण, अज्ञान और अन्धकार कहा जाता है।

ऐसी दशा में वह अपने दुःखों की नितान्त निवृत्ति की आशा कैसे कर सकता है? वह तो घूमघाम कर फिर उसी दुःख-दर्द के चक्र में पड़ जायेगा। चूँकि लौकिक कामनाओं के अनुसार वह जिन विभूतियों को माँगेगा और पायेगा, वे सब अपने निसर्गानुसार नश्वर ही होंगी। एक दिन उसका नष्ट हो जाना निश्चित है और वे एक शोक-सन्ताप देकर नष्ट हो जाँयेगी। सकाम उपासना करना ठीक वैसी ही गलती है, जैसे कोई अनजान व्यक्ति रत्नोपम वस्तु का विनिमय किसी रङ्गीन काँच से कर लेता है। जिसके उपासना आधार पर सच्चिदानन्द स्वरूप आत्मा और परमात्मा की प्राप्ति हो सकती है। उसके लिये उन भौतिक वस्तुओं का क्या माँगना जो किसी पुरुषार्थी व्यक्ति के हाथों का समैल कही गई हैं। उपासना कीजिये, निष्काम उपासना और उसके उपहार स्वरूप चिदानन्द को उपलब्ध कर सदा-सर्वदा के लिये संसार के दैहिक, दैविक और भौतिक पाप तापों से उस पार उतर जाइये।

प्रार्थना द्वारा अपने को परमात्मा से मिलाइये

प्रार्थना मनुष्य जीवन का ध्रुवतारा है। उसे नितान्त आवश्यक नित्य कर्मों में भी सबसे आवश्यक समझा जाना चाहिए और शरीर निर्वाह के अन्य कार्यों की उपेक्षा करके भी प्रार्थना को प्रमुखता देनी चाहिये। भोजन न मिलने से शरीर को ही भूखा रहना पड़ेगा पर प्रार्थना का अभाव रहने से तो आत्मा की प्रगति ही रुक जायेगी। हम शरीर नहीं आत्मा हैं। इसलिये शरीर की उपेक्षा करके भी आत्मा की आवश्यकताओं को प्रमुखता मिलनी चाहिये। शरीर की शुद्धि के लिये स्नान और वस्त्रों की सफाई के लिए साबुन जितना आवश्यक है उससे भी अधिक उपयोगिता आत्मिक शुद्धि के लिये प्रार्थना की है। उसमें न तो आलस्य करना चाहिए और न प्रमाद। प्रार्थना की उपेक्षा जीवन के सर्वोत्कृष्ट स्वार्थ का तिरस्कार करने जैसी भूल है। इस भूल के लिए जितना पश्चाताप करना होता है उतना और किसी के लिए नहीं।

नियत निर्धारित समय पर शरीर, वस्त्र और स्थान शुद्धि के साथ, पूजा उपकरणों की सहायता से विधिवत् उपासना की जा सके तो सर्वोत्तम है। पर यदि किसी करणवश वैसा न बन पड़े तो प्रातः नींद खुलने से लेकर शैया त्याग तक का जो समय मिलता है, उसमें पूर्व-संध्या और रात को सोते समय शैया पर जाने से पहले निद्रा-मग्न होने तक का जो समय मिलता है उसमें उत्तर-संध्या की जा सकती है। यह दोनों समय हर व्यक्ति के पास सुविधा के रहते ही हैं। व्यस्तता का बहाना इन क्षणों के लिये तो बनाया भी नहीं जा सकता। प्रार्थना के लिए यह समय सर्वोत्तम है। नियमित उपासना करने वालों की भाव प्रार्थना तो इस समय भी होनी चाहिए। मानसिक उपासना बिना किसी पूजा उपकरण एवं शुद्धि के भी चारपाई पर पड़े-पड़े भी मनोभाव, श्रद्धा, विश्वास एवं ध्यान धारणा के आधार पर भी हो सकती है। इसे तो अनिवार्य ही मानना चाहिए। विधिवत् उपासना जिनसे बन पड़े वे उसे भी किया ही करें।

प्रार्थना में भावना का प्रमुख स्थान है। भावना जितनी सच्ची गहरी और श्रद्धापूर्ण होगी, उतना ही उसका सत्परिणाम भी होगा, इसलिये शब्दों को रटने की चिन्ह पूजा को नहीं वरन् समुचित श्रद्धा के साथ प्रार्थना की भावनाओं को अन्तःकरण में आन्दोलित करना चाहिए। दो निकटवर्ती आत्मीय जन जिस प्रकार हृदय खोल कर परस्पर वार्तालाप करते हैं उसी तरह भगवान को अपने अन्तःकरण में बैठा हुआ अनुभव करते हुए उसके सम्मुख अपने मनोभाव प्रस्तुत करने चाहिए। भगवान अपने रोम-रोम में समाया हुआ है, साँसों के साथ थिरकता हुआ बाहर आता और भीतर जाता रहता है। हृदय में उसी की धड़कन और रक्त में उसी की गर्मी काम कर रही है। प्राण, चेतना और भावना के रूप में वही तो अपनी प्रेरक शक्ति बना बैठा है। ऐसे अभिन्न हृदय मित्र से, स्वजन स्नेही से जी खोल कर बातें करने में संकोच ही क्यों होना चाहिये? उसके साथ जी खोलकर बातें करने में भय ही क्या है? प्रार्थना यदि भावनापूर्ण है तो

वह बिना पूजा साधना के भी उतनी ही प्रभावशाली हो सकती है, जितनी विधि-विधान के साथ किये गये पूजा पाठ की नियमित आराधना।

भगवान् के निकट भावना का महत्त्व सर्वोपरि है। विस्तृत कर्मकाण्ड भी यदि अश्रद्धा के साथ चिन्ह पूजा की तरह भार उतारने के निमित्त किया गया है तो उसका जो फल होगा उससे वह भाव प्रार्थना श्रेष्ठ है, जो सच्चे हृदय से जी खोलकर की गई है। नियमित उपासना का महत्त्व कम करने की बात किसी को सोचनी भी न चाहिये। यहाँ ऐसा कुछ नहीं कहा जा रहा है कि नियमित विधिवत् साधना बन्द करके केवल ध्यान प्रार्थना ही करते रहा जाय। यह तो घाटे की बात होगी। नियमित साधना का अपने स्थान पर अपना महत्त्व है। उससे एक प्रकार का योगाभ्यास होता है। सूक्ष्म शरीर के चक्रों और उपत्यकाओं का जागरण होता है और संस्कारों में दृढ़ता आती है। हमारे घरों में पूजा, आरती, भोग, प्रसाद जप, तप, पाठ, ध्यान का कार्यक्रम चलते ही रहने चाहिये। यह भाव ध्यान, जिसका उल्लेख इन पंक्तियों में किया जा रहा है, ऐसा है कि उसे प्रातः सायं उठते सोते तो करना ही चाहिए अन्य किसी अवकाश के समय में भी किया जा सकता है।

हम प्रार्थना करें:—

"हे भगवन् आप सर्वत्र समाये हुए हैं, कोई स्थान आपकी उपस्थिति से रिक्त नहीं, जड़, चेतन में आपकी ही सत्ता प्रकाशवान हो रही है। अन्य प्राणियों की भांति मेरे कण-कण में भी समाये हुए हैं। संसार भर में जो कुछ हो रहा है उससे आप परिचित हैं। अन्तःकरणों में बैठे हुए सब की भावनाओं को आप जानते हैं। मेरी प्रत्येक गतिविधि और भावना विचारणा का आपको भलीभांति परिचय है। इस विश्व में कुछ भी ऐसा नहीं जो आपसे छिपा हो।"

"आप निष्पक्ष और न्यायकारी हैं। आपको सभी मनुष्य, सभी प्राणी समान रूप से प्रिय हैं। आप सबके पिता हैं इसलिये

सभी प्राणी आपको समान रूप से पुत्रवत् प्रिय होने स्वाभाविक हैं। आप सब पर प्रसन्न हैं और सब पर करुणा करते हैं। संसार की सुव्यवस्था के लिये न्याय तुला का आपने जो पुण्य विधान बनाया है वह सबके हित का होने से सब प्रकार उचित और उपयुक्त है। आप न्याय की रक्षा करने में तनिक भी विचलित नहीं होते। किसी के साथ पक्षपात नहीं करते। कर्मफल के अनुसार सबको दुःख सुख का उचित दण्ड पुरस्कार देते हैं। इसमें आपकी करुणा, न्यायशीलता और निष्पक्षता ही सन्निहित है।''

''सत्कर्म ही आपकी सबसे बड़ी पूजा है। सद्भावनाओं के पुण्य ही आपको प्रिय हैं। सद्विचारों में ही आपको अपनी सच्ची भक्ति प्रतीत होती है। आपके बनाये हुए नियमों को कर्त्तव्यनिष्ठ होकर जो दृढ़तापूर्वक पालन करता है, लोभ और भय से विचलित होकर जो अपने कर्त्तव्य का त्याग नहीं करता, उसके सदाचार रूपी भजन को ही आप मान देते हैं। ऐसा भजन करने वाला भक्त ही आपकी विशेष कृपा का अधिकारी बनता है।''

''दूसरों को सताने या ठगने वाला वस्तुतः अपने आपको ही सताता और ठगता है। क्योंकि आप ही सबमें विद्यमान होने के कारण उस अनाचार के शिकार होते हैं। प्राणियों के प्रति सद्भाव रखना और सद्व्यवहार करना वस्तुतः आपकी ही अर्चना वन्दना करना है। अपने पुत्रों के साथ सज्जनता का व्यवहार करते देखकर ही आप किसी को अपना भक्त मानते हैं। ठीक भी है पिता उसी से तो विशेष प्रसन्न होगा जो उसके पुत्रों के प्रति कर्त्तव्य से भी अधिक बढ़कर उदारता की श्रेणी का सद्व्यवहार करने का साहस करेगा। प्राणियों के साथ दुर्व्यवहार करके जिसने नीचता का परिचय देते रहने का क्रम बना लिया है वह आपको शूल चुभाने वाला किस मुँह से यह आशा करेगा कि आप उस पर प्रसन्न होंगे।''

''ख्याति और बढ़प्पन या अन्य प्रकार का भौतिक प्रतिफल पाने के लिए किये गये धर्म आडम्बर आपको प्रिय नहीं। आप कर्त्ता

की भावनाओं को परखते हैं। इसलिए परमार्थ केवल उसे ही मानते हैं जो निस्वार्थ एवं उदात्त भावनाओं से प्रेरित होकर किया गया है। ऐसे ही सत्कर्मों की आप पुण्य में गणना करते हैं और उसी आधार पर किसी को पुण्यात्मा मानकर सद्गति प्रदान करते हैं।''

''कर्त्तव्य पालन में चट्टान की तरह अडिग व्यक्ति आपको परम प्रिय हैं। प्रलोभनों में, असंयम में पड़कर भी जो अपने शील को सुरक्षित रखता है उस आत्म विजेता से आप प्रसन्न रहते हैं। जो पाप के अतिरिक्त और किसी से नहीं डरता उस निर्भय को आप प्यार करते हैं। आपत्तियों से जो भयभीत नहीं होता, चिन्ता निराशा और क्षोभ जिसे सताते नहीं, उस सज्जन और संतुलित व्यक्ति पर आपकी अनुकम्पा सहज ही होती है।''

''आप सत्य हैं, आप शिव हैं, आप सुन्दर हैं। जो आपको अन्तरात्मा में धारण करता है, उसकी प्रवृत्ति सत्य से प्रेरित होती हैं, वह शिव, कल्याणकारक कार्य करता है और उसकी समस्त चेष्टायें सुन्दर दीखती हैं। आप दिव्य हैं और आपको प्रेम करने वाला दिव्य गुणों वाला देवता बनता है। आप प्रेम हैं। आपकी किरण जिसके भीतर प्रतिभासित होगी, वह सबको प्रेम की, मैत्री की आत्मीयता एवं उदारता की दृष्टि से देखेगा। दूसरों के सुख दुःख में उसे अपने सुख-दुख जैसी भली बुरी अनुभूति होगी।''

''आप जिस पर प्रसन्न होते हैं उसे सद्बुद्धि और सन्मार्ग पर चलने की साहसपूर्ण प्रेरणा प्रदान करते हैं। अपना स्वरूप गौरव और सर्वस्व समझ लेने पर मनुष्य विश्वविजयी बनता है। समस्त कठिनाइयों को पार कर लेना उसके लिये सरल हो जाता है। आपका प्रकाश पुरुषार्थ के रूप में जब प्रकट होता है तो मनुष्य आलस्य और प्रमाद को परास्त कर समय, धन, आहार, व्यवहार, विचार आदि को नियमित एवं व्यवस्थित बना लेता है। आपका वरदान किसी के जीवन की नियमित व्यवस्था बनी हुई देखकर ही जाना जा सकता है।''

"आप मानव शरीर देकर सृष्टि के समस्त प्राणियों की अपेक्षा अत्यधिक श्रेष्ठ उपहार हमें दे चुके, अब एक वस्तु विशेष उपहार हमें देने के लिए शेष है। उसे पाने का अधिकारी हमें बनाइये। ऐसी कृपा कीजिये कि हम मानव अन्तःकरण प्राप्त कर सकें। नर-पशु से ऊँचे उठकर गुण-कर्म-स्वभाव की दृष्टि से सच्चे मनुष्य बन सकें। जिस दिन हम सच्चे मनुष्य बन सकेंगे उसी दिन आपकी कृपा मिलेगी और हम इसी जीवन में शरीरधारी रहते हुए भी जीवन मुक्ति का आनन्द लेते हुए लक्ष्य की पूर्णता और इस जन्म की सार्थकता अनुभव करेंगे।"

"प्रभो! हमें सन्मति दीजिए, साहस दीजिए, और सज्जनता के पथ पर ले चलिये। आपके पास यही सर्व-श्रेष्ठ उपहार वरदान हमारे लिये हो सकता है तो हमें इस योग्य बनने की शक्ति दीजिये कि अपने आचरणों से आप को प्रसन्न करके यह अनुग्रह प्राप्त कर सकें। भगवन्! हमें असत्य से सत्य की ओर ले चलिए, अन्धकार से प्रकाश की ओर ले चलिये, मृत्यु से अमृत की ओर ले चलिए। हमारा कल्याण कीजिए और इस समस्त संसार का कल्याण कीजिए।"

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः

उपासना बिना कल्याण नहीं

चन्द्रमा तब चमकता है जब उस पर सूर्य चमकता है। जब वह चमक उसे प्राप्त नहीं होती है तो अमावस्या के दिन यथास्थान रहते हुए भी उसका अस्तित्व लुप्त प्रायः ही रहता है। होते हुए भी न होने जैसी स्थिति उसकी रहती है। पृथ्वी के उतने भाग में दिन रहता है जितने पर सूर्य की किरणें पड़ती हैं। जितने भाग पर वे नहीं चमकती वहाँ घोर अन्धकार छाया रहता है और हाथों हाथ सूझ नहीं पड़ता। यही बात आत्मा के सम्बन्ध में है। उस पर जब परमात्मा का प्रकाश चमकता है तो उज्ज्वल और दीप्तिमान दीखता है और जब वह चमक बन्द हो जाती है तो मानवशरीर धारी एक निकृष्ट नर-पशु

के रूप में एक घृणित एवं निकम्मा अस्तित्व मात्र ही दृष्टिगोचर होता है। परमात्मा से दूर रहने वाले मनुष्य बहुधा मनुष्यता से रहित ही पाये जाते हैं।

आत्मा, परमात्मा का एक अंश मात्र है। उसे जो कुछ शक्ति और प्रतिभा प्राप्त है ईश्वर की ही विभूति है। जिसमें यह विभूति जितनी कम पड़ जाती है वह उतना ही दीन-हीन बना रहता है। शक्ति का स्रोत जिस उद्‌गम से प्रवाहित होता है उसके साथ सम्बन्ध जोड़ लेने से सामान्य जीव को भी शक्ति का पुंज बनने में देर नहीं लगती। बिजलीघर के साथ जुड़े हुए पतले-पतले तार अपने भीतर इतनी शक्ति धारण कर लेते हैं कि उनके द्वारा सैंकड़ों घोड़ों की शक्ति वाली मशीनें धड़-धड़ाती हुई चलने लगती हैं। इनको स्पर्श करने वाले बल्ब अन्धेरी रात को दिन जैसा प्रकाशवान बना देते हैं बिजलीघर से जब तक सम्बन्ध है तभी तक उन तारों में यह विभूति रहती है कि उनके स्पर्श से चमत्कार उत्पन्न हो सके जब वह सम्बन्ध कट जाता है, तारों को बिजली घर के विद्युत भण्डार की धारा का प्रवाह मिलना रुक जाता है तो फिर उनका कोई महत्त्व नहीं रह जाता। देखने में पहले जैसा लगने पर भी वे न प्रकाश उत्पन्न करते हैं और न मशीनें चला पाते हैं। तार का मूल्य बिजली घर से सम्बन्ध होने के कारण ही तो था, वह टूट गया तो फिर उसकी महत्ता कहाँ स्थिर रह सकती थी?

आत्मा के द्वारा अनेक लौकिक और पारलौकिक प्रयोजन पूर्ण किये जाते हैं। अनेकों सफलता और समृद्धियों को प्राप्त करने का श्रेय आत्म-बल को ही दिया जा सकता है। शरीर की दृष्टि से सब मनुष्य लगभग समान होते हैं! देह के बल पुञ्जों में कोई विशेष अन्तर नहीं होता। फिर भी मनुष्य-मनुष्य के बीच जमीन आसमान का अन्तर पाया जाता है। एक भीरु है तो दूसरा दुस्साहसी। एक दुष्ट है तो दूसरा महात्मा। एक तृष्णा वासना की मृग मरीचिका में भटकता है। दूसरा आनन्द और उल्लास का, परितृप्ति का रसास्वादन करता

है। एक के उद्वेग और शोक सन्ताप का ठिकाना नहीं, दूसरे को सन्तोष की शक्ति आह्लादित किये रहती है। एक को सम्पूज्य और दूसरे को तिरस्कृत देखते हैं। एक प्रगति की ओर बढ़ रहा है तो दूसरा पतन के गर्त में गिरता ही चला जा रहा है। इस प्रकार के असाधारण अन्तर मनुष्य की आन्तरिक आत्मिक स्थिति की भिन्नता के कारण होते हैं।

आत्म-बल संसार के सब बलों से श्रेष्ठ है। धन-बल, शरीर-बल, बुद्धिबल, संख्याबल आदि अनेक बलों के द्वारा मनुष्यों को विविध प्रकार की सफलताएँ मिलती हैं, पर उन सबके मूल में आत्म-बल की ही प्रधानता रहती है। उसके अभाव में अन्य सब बल बालू की भीत की तरह अस्थिर रहते हैं। जरा-सा आघात लगते ही उनके अस्त-व्यस्त होने में देर नहीं होती। जीवन की सार्थकता आत्म-बल पर ही निर्भर रहती है। अन्य बल तो छाया मात्र हैं।

आत्मा को जब भी स्थायी बल प्राप्त होता है तब उसे वह उपलब्धि परमात्मा से ही मिली होती है। मोती समुद्र से ही निकलते हैं। उनका उपयोग कहीं भी किसी कार्य के लिए भी किया जा सकता है पर उसकी उत्पत्ति समुद्र के अतिरिक्त और कहीं नहीं होती। इसी प्रकार आत्म-बल का वरदान भी परमात्मा से प्राप्त होता है। अन्धा लाठी के सहारे अपनी मंजिल पार करता है। जीव भी इस पाप-ताप के अन्धकार से भरे संसार से जीवन-लक्ष प्राप्त करने की यात्रा ईश्वर का अवलम्बन करके ही पूर्ण कर सकता है।

परमात्मा समस्त उच्च शक्तियों और संभावनाओं का केन्द्र है। उसी भण्डार से आत्मा अपनी अभीष्ट वस्तुएँ उपलब्ध करता है। इसी अमृत को पीकर उसकी प्यास बुझती है। पपीहा तब तक तृषित ही रहता है जब तक उसे स्वाँति नक्षत्र की वर्षा का जल नहीं मिलता। आत्मा भी तब तक अतृप्त ही रहता है। जब तक उसे प्रभु की शरणागति प्राप्त नहीं हो जाती। नव-जात शिशु अपनी माता का

पय पान करके ही जीवन धारण कर सकने में समर्थ होता है। मानवीय महानताएँ भी परमात्मा के सान्निध्य से प्राप्त होती हैं।

प्रभु की अवज्ञा करके, अहंकार में परमात्मा को विस्मरण करके अपने पुरुषार्थ के आधार पर कुछ भौतिक सम्पदाएँ भी प्राप्त की जा सकती हैं पर आन्तरिक महानता, उदार दृष्टिकोंण एवं प्राणी मात्र के प्रति आत्मीयता का वरदान केवल ईश्वर की अनुकम्पा से ही मिल पाता है। बिना डोरी के पतंग की तरह जीव निरुद्देश्य दिन काटता रहता है। पर जब भगवान के साथ वह अपना सम्बन्ध बना लेता है तो उसे अपने स्वरूप और लक्ष का पता चल जाता है। तब मंजिल को पूरी करने का क्रम भी वह जान लेता है और दृढ़तापूर्वक नियत दिशा में चलते हुए उन सब विभूतियों को प्राप्त कर लेता है, जिन्हें प्राप्त करने के लिए उसे यह सुर दुर्लभ मानव शरीर मिला होता है।

पाप का प्रलोभन और आपत्तियों का भय मनुष्य को पग-पग पर पथभ्रष्ट करता है! ऐसी परिस्थितियाँ सामने आती ही रहती हैं जिनके अनुसार अनुचित मार्ग को अपना कर आकर्षक लाभ उठाया जाना सम्भव होता है। ऐसे विघ्न भी आते ही रहते हैं जो सन्मार्ग छोड़कर कुपथ अपना लेने से टल सकते हैं। आधार विहीन व्यक्ति ऐसे अवसरों पर स्थिर नहीं रह सकते उन्हें पथ भ्रष्ट होते देर नहीं लगती। छोटे से परीक्षा अवसर आने पर भी वे अपनी प्रमाणिकता खो बैठते हैं। धर्म और नीति की पतवार हाथ से छूट जाती है और जमाने की बहती हुई धारा में डोलती हुई उनकी नाव भी भँवर में जा घँसती। उस विपत्ति से छुड़ा सकने की सामर्थ्य केवल प्रभु आश्रय में ही है। भगवान् का संबल पकड़े रहने से ही जीव अपनी रक्षा पतनकारी आँधी तूफानों से कर सकता है इसी आश्रय को लेकर भवनिधि से पार उतर सकना सम्भव होता है।

जिसने सच्चे मन से भगवान का आश्रय लिया उसे सन्मति का वरदान मिला। मति का सही दिशा में लगाना न लगाना ही जीवन क्रम को सफलता असफलता का आधार होता है। जिसकी जीवन के सदुपयोग की चिन्ता हो गई, जिसने सत्य का, धर्म और पवित्रता

का अवलम्बन ग्रहण कर लिया उसे अपने भीतर आत्म सन्तोष और बाहर से सहयोग एवं सम्मान की तरंगें उठती दिखाई देंगी और वह उसी आनन्द से निमग्न होकर मानव-जीवन की सफलता का रसास्वादन कर रहा होगा। यह अवसर ईश्वर की कृपा से ही मिलता है। पुरुषार्थ से भौतिक वैभव भले ही मिले पर आत्म-विकास के साधन तो भगवान की कृपा से ही सम्भव होते हैं। जो प्रभु के आगे अपना हृदय खोलकर रखता है, उनकी करुणा के लिए प्यासे की तरह पुकारता है, उसे निश्चय ही अतृप्त नहीं रहना पड़ता।

कुतुबनुमा की सुई उत्तर की ओर ही मुँह करके स्थिर रहती है। जब तक उसे दूसरी दिशाओं में घुमाया जाता रहेगा तब तक वह अस्थिर ही बनी रहेगी। स्थिरता तब आती है जब आधार का सही आश्रय मिल जाता है। आत्मा का लक्ष परमात्मा की प्राप्ति है, जब तक यह दिशा प्राप्त नहीं होती तब तक अस्थिरता, उद्विग्नता चञ्चलता एवं अशान्ति ही बनी रहती है। पर जब लक्ष की दिशा में पग उठने लगते हैं, परमात्मा को प्राप्त करने की लगन लग जाती है तब उस प्रयत्न का प्रत्येक चरण जीवात्मा के लिए शान्ति का सृजन करने लगता है।

जीव स्वयं तो निर्बल, तुच्छ है। उसे विशालता और महानता परमात्मा के सान्निध्य से ही उपलब्ध होती है। इसके लिए जो प्रयत्न करता है वही बुद्धिमान है। दूर-दर्शिता की एक मात्र कसौटी यह है कि अपने सुदूर भविष्य को उज्ज्वल बनाने के लिए भावना उठे, विचारणा चले और क्रिया आरम्भ हो। जानते समझते और चाहते हुए भी वह हो नहीं पाता। पैर कदम-कदम पर डगमगाते हैं। विपन्नताएँ मार्ग रोककर खड़ी होती हैं, विभीषिकाएँ निराश करती हैं और साँसारिक आकर्षणों का जाल अपने बन्धनों में कसकर बाँध लेता है। इस कुचक्र में फँसा हुआ जीव कुछ कर नहीं पाता। श्रेय प्राप्ति का उद्देश्य प्रेय की उलझन में ही फँसा रह जाता है। इस चक्रव्यूह से

उद्धार केवल भगवान की कृपा से ही हो सकता है और वह तब मिलती है जब भक्त सच्चे मन से आतुर होकर भगवान को पुकारता है।

प्रार्थना में बड़ी शक्ति है। वह भगवान को भक्त के समीप खींच लाती है या भक्त को भगवान तक पहुँचा देती है सच्चे मन से की हुई, अन्तरात्मा की आर्त पुकार कभी अनसुनी नहीं की जा सकती। भगवान उसे सुनते हैं और पूरा करते हैं। शर्त एक ही है—प्रार्थना सच्ची होनी चाहिये। सच्ची प्रार्थना का अर्थ है आत्म कल्याण के लिए पाप-तापों से, प्रलोभन, आकर्षणों से बचने और सन्मार्ग पर चलने की उत्कट आकांक्षा और उसकी अभिव्यक्ति। भौतिक कष्टों की निवृत्ति और सफलताओं की प्राप्ति के लिये भावनाशील भक्त अपने भगवान को कष्ट देना उचित न समझेगा इस सम्बन्ध में तो वह अधिक से अधिक इतना ही कह सकता है कि विपत्तियों से लड़ने, प्रारब्ध कर्मों को हँसते हुए सहने और पुरुषार्थ के बल पर आवश्यक साधनों को उपार्जित करने योग्य उसे आवश्यक साहस, धैर्य और स्वभाव मिल जाय तो उतना ही पर्याप्त है।

उपासना ही नहीं साधना भी

जितना महत्त्व उपासना का है उतना ही साधना का भी है। हमें उपासना पर ही नहीं साधना पर भी ध्यान और जोर देना चाहिये। जीवन को पवित्र और परिष्कृत—संयत और संतुलित उत्कृष्ट और आदर्श बनाने के लिये अपने गुण, कर्म, स्वभाव को उच्च स्तरीय बनाने के लिये, निरन्तर प्रयत्न करना चाहिये। इस प्रयत्न का नाम ही जीवन-साधना अथवा साधना है। उपासना पूजा तो निर्धारित समय का क्रिया-कलाप पूरा कर लेने पर समाप्त हो जाती है, पर साधना चौबीस घन्टे चलानी पड़ती है। अपने हर विचार और हर क्रिया पर चौकीदार की तरह कड़ी नजर रखनी पड़ती है कि कहीं कुछ अनुचित अनुपयुक्त तो नहीं हो रहा है। जहाँ भूल दिखाई दी

कि उसे तुरन्त सुधारा—जहाँ विकार पाया कि तुरन्त उसकी चिकित्सा की—जहाँ पाप देखा कि तुरन्त उससे लड़ पड़े। यही साधमा है। जिस प्रकार सीमा रक्षक प्रहरियों को हर घड़ी शत्रु की चालों और घातों का पता लगाने और जूझने के लिए लैस रहना पड़ता है, वैसे ही जीवन संग्राम के हर मोके पर हमें सतर्क और तत्पर रहने की आवश्यकता पड़ती है। इसी तत्परता को साधना कहा जा सकता है।

यह सोचना ठीक नहीं कि भजन करने मात्र से पाप कट जायेंगे और ईश्वर प्रसन्न हो जायेंगे, अतएव जीवन को शुद्ध बनाने अथवा कुमार्गगामिता से बचने की आवश्यकता नहीं। इसी भ्रमपूर्ण मान्यता ने अध्यात्म के लाभों से हमें वंचित रखा है। यह भ्रम दूर हटाया जाना चाहिये और भारतीय अध्यात्म का तत्वज्ञान एवं ऋषि-अनुभवों के आधार पर यही निष्कर्ष अपनाना चाहिये कि उपासना और साधना आध्यात्मिक प्रगति के दो अविच्छिन्न पहलू हैं। दोनों एक दूसरे से पूरक हैं। एक के बिना दूसरा अपूर्ण है। जिस तरह अन्न और जल, रात और दिन, शीत और ग्रीष्म, स्त्री और पुरुष का जोड़ा है, उसी प्रकार उपासना और साधना भी अन्योन्याश्रित है। एक के बिना दूसरा अकेला असहाय एवं अपूर्ण ही बना रहेगा, इसलिये दोनों को साथ लेकर अध्यात्म मार्ग पर प्रगतिशील होना ही उचित और आवश्यक है।

सच्चे आस्तिक एवं सच्चे ईश्वर भक्त का जीवन-क्रम उत्कृष्ट आदर्शवादी एवं परिष्कृत होना ही चाहिये। नशा पीने पर मस्ती आनी ही चाहिये। भक्ति का प्रभाव सज्जनता और प्रगतिशीलता के रूप में ही दीखना ही चाहिये। इसलिये हमारा उपासना क्रम साँगोपांग होना चाहिये। और उसमें आत्म-निरीक्षण आत्म-सुधार, आत्म-निर्माण एवं आत्म-विकास की परिपूर्ण प्रक्रिया जुड़ी ही रहनी चाहिये। उपासना और साधना का स्वतन्त्र अस्तित्व हैं। एक को कर लेने से दूसरे की पूर्ति हो जायेगी यह सोचना उचित नहीं। लाखों

साधु-बाबा, पंडा-पुजारी भजन ध्यान में नित्य घन्टों समय लगाते हैं पर उनका जीवन प्रायः घृणित एवं निकृष्ट स्तर का बना रहता है।

इससे स्पष्ट है कि उपासना अपने स्थान पर, अपने प्रयोजन के लिए ठीक है, पर वह साधना की आवश्यकता पूरी नहीं कर सकती। यदि कर सकी होती तो हर भजन करने वाला सचरित्र पाया जाता। पर ऐसा होता कहाँ है? इससे स्पष्ट है कि हमें साधना के लिए प्रथक से प्रयत्न करना होगा। जीवन शोधन और जीवन विकास की साधना पद्धति को उतना ही—उससे भी अधिक महत्त्व देना होगा— जितना कि उपासना को देना है। साधना रहित उपासना विडम्बना मात्र बन कर रह जाती है। किन्तु यदि साधना को सर्वांगपूर्ण बना लिया है-जीवन को उत्कृष्ट बना लिया जाय-तो बिना उपासना के भी अध्यात्म प्रयोजन की पूर्ति हो सकती है।

ईश्वर की भावनात्मक पूजा की तरह ही सद्-आचरण द्वारा भी उपासना की जा सकती है। हम निष्पाप बनें इतना ही पर्याप्त नहीं वरन् यह भी आवश्यक है कि अपने कर्म एवं स्वभाव में सद्‌गुणों का समुचित समावेश करके दिव्य जीवन बनावें और उसके द्वारा अपना और समस्त समाज का कल्याण करें। व्यक्तित्व को परिष्कृत और विकसित करते हुए ही हम आत्मिक प्रगति के मार्ग पर बढ़ते हैं और पूर्णता का लक्ष्य प्राप्त कर सकने में सफल होते हैं।

अतएव यही सनातन क्रम चला आता है कि हर अध्यात्मप्रेमी ईश्वर की उपासना के साथ जीवन को उत्कृष्ट बनाने की साधना भी करे।

हमारा समस्त जीवन ही साधनामय बने

मानव-जीवन ईश्वर की एक अनमोल अमानत है। इसे आदर्श एवं उत्कृष्ट बनाना ही अपनी बुद्धिमत्ता और दूरदर्शिता का परिचय देना है। भगवान् ने हमारी पात्रता की कसौटी के रूप में यह मनुष्य शरीर दिया है और यह परखा है कि हम इसका उत्तरदायित्व सम्भालने की स्थिति में हैं या नहीं? यदि इस कसौटी पर खरे उतरे

तो ऋषित्व एवं देवत्व जैसे उच्च उत्तरदायित्व प्रदान कर अन्ततः अपना ही अङ्ग बना लेता है, पर यदि मनुष्यत्व जैसी परीक्षा में सफल न हो सके, इतना छोटा उत्तरदायित्व भी सम्भाल न सके तो जिस स्तर के हम हैं उसी निम्नयोनि में पड़े रहने के लिये वापिस भेज देता है। गैर जिम्मेदार सरकारी कर्मचारी 'रिबर्ट' कर छोटे पदों पर उतार दिये जाते हैं। हमें भी अपनी निकृष्ट मनोभूमि के अनुरूप निम्न-योनियों में उतरना पड़ सकता है।

अस्तु प्रयत्न यह होना चाहिये कि मानव जीवन के महान् उत्तरदायित्व को वहन करने के लिये हम पग-पग पर सतर्कता बरतें। निम्न-योनियों के संचित कुसंस्कारों को हटावें और मानवोचित गुण कर्म स्वभाव की सद्भावनाओं और सत्प्रवृत्तियों की अभिवृद्धि करें। यह प्रयत्न तभी सफल हो सकता है जब हर घड़ी अपने आपके ऊपर चौकसी रखी जाय। अपने सम्बन्ध में असावधान रहने से—उसी ढर्रे पर अपनी गाड़ी भी लुढ़कने लगती है जिससे आस-पास घिरे हुए निकम्मे लोगों का जीवन फूहड़पन के साथ बर्बाद होता चला जा रहा है। आवश्यकता ऐसी विवेकशीलता की है, जो अपने सम्बन्ध में सतर्कता बरतने और दूसरे गन्दे लोगों का अनुकरण न करके अपना मार्ग स्वतः निर्धारण करने का साहस प्रदान कर सके।

ऐसा साहस ही अध्यात्म है—जो आदर्श जीवन जीने की गतिविधियों का निर्माण करे और उसी रास्ते पर उत्साहपूर्वक घसीट ले चले। जिन लोगों के बीच हमारा रहना है, उसमें से अधिकांश बड़े स्वार्थी, संकीर्ण, ओछे गन्दे लोग हैं, इनकी कोशिश अपने ही ढर्रे पर साथियों को भी घसीट ले चलने की होती है। वे उत्कृष्ट जीवन जीने वालों का मजाक बनाते हैं। निन्दा और विरोध करते हैं और तरह-तरह की अड़चनें खड़ी करते हैं। जो इनसे डर गया वह गन्दा जीवन जीने के लिए विवश होगा, पर जिसने साहस करके अपना पथ स्वयं निर्धारण करने का संकल्प कर लिया और पड़ौसियों की उपेक्षा करके उत्कृष्टता की गतिविधियाँ अपनाने के लिये

दृढ़तापूर्वक चल पड़ा वही जीवनोद्देश्य की प्राप्ति में सफल होता है। अध्यात्म साहसी शूरवीरों का—आदर्शवादी और उत्कृष्ट लोगों का मार्ग है।

देवी-देवताओं को मंत्रतंत्र से सिद्ध कर उनसे तरह-तरह की मनोकामनाएँ सहज ही प्राप्त कर लेने के सपने देखने वाले, थोड़ी-सी टंट-घंट के बदले स्वर्ग-मुक्ति लूट ले जाने वाले धूर्त, अपना मन सस्ते सपने देखने में बहलाते रह सकते हैं, पर रहना उन्हें खाली हाथ ही पड़ता है। जो जीवन-शोधन का पुरुषार्थ कर सकने का साहस नहीं कर सकते, उन्हें आत्मिक प्रगति, ईश्वर की प्रसन्नता और उन दिव्य विभूतियों की आशा नहीं करनी चाहिये, जिन्हें पाकर मनुष्य-जीवन धन्य और सार्थक बनता है। कीमती वस्तुयें उचित मूल्य देकर ही खरीदी जा सकती हैं। आध्यात्मिक विभूतियाँ और दैवी सम्पदायें जीवन-शोधन से कम मूल्य पर आज तक न कोई खरीद सका है और न भविष्य में कोई खरीद सकेगा। सस्ते मूल्य पर आत्मिक सफलताएँ मिलने के प्रलोभन विडम्बना भरे हैं। उनसे हर विवेकशील को अपना पिण्ड शीघ्र ही छुड़ा लेना चाहिए और साहसपूर्वक जीवन-शोधन के उस राज-मार्ग पर चल पड़ना चाहिये, जिस पर चले बिना कल्याण का लक्ष्य प्राप्त कर सकना किसी के लिये भी सम्भव नहीं हो सकता।

यह कार्य एक निर्धारित समय पर थोड़ी पूजा-उपासना जैसी प्रक्रिया अपना कर सम्पन्न नहीं किया जा सकता। हर घड़ी आत्म-निरीक्षण की दृष्टि अपने ऊपर रखने से ही यह प्रयोजन सिद्ध होता है। साधना के प्रथम चरण अपने शरीर और मन पर—कार्य और विचारों पर बारीकी से तीखी नजर रखकर यह देखना होता है कि मनुष्यता के गौरव को गिराने वाले—पशु स्तर के—कुसंस्कार अपने में कितने समाये हुए हैं? गुण, कर्म, स्वभाव में किन पशु प्रवृत्तियों का समावेश है? उन्हें धीरे-धीरे, एक-एक करके छोड़ने का संकल्प करना चाहिये। अपने कुसंस्कारों से लड़ना चाहिये।

उनकी हानियों पर विचार करना चाहिये। और एक-एक करके अपने दोष, दुर्गुणों को छोड़ते चलना चाहिये।

आहार-बिहार सम्बन्धी कितनी ही कुटेवें अपने अन्दर हो सकती हैं। नशे, व्यसन, व्यभिचार, आलस्य, कटु-भाषण, क्रोध, आवेश, असंयम, मलीनता, लापरवाही, आशंका, चिन्ता, भय, कायरता, निराशा, उच्छृङ्खलता जैसे छोटे-मोटे स्वभाव जन्य-दोष ऐसे होते हैं, जो देखने में मामूली से लगते हैं, पर प्रगति के पथ पर भारी अवरोध उत्पन्न करते हैं। चोरी, हत्या, धोखा, बेईमानी, बलात्कार जैसे बड़े पाप तो कोई बिरले ही करते हैं, उनके लिए कानून में दंड व्यवस्था भी है पर छोटे दुर्गुणों की ओर कोई ध्यान नहीं दिया जाता। असल में पतन की जड़ यही होते हैं और आगे चल कर उन्हीं की वृद्धि होती चलने से व्यक्ति क्रूर-कुकर्मी, नर-पिशाच बन जाता है। इसलिये इन विष वृक्षों के छोटे-मोटे पौधे भी अपने जीवन क्षेत्र में उग रहे हों तो उन्हें एक-एक कर के फेंकते चलने के लिये कटिबद्ध हो जाना चाहिये। अपने दैनिक क्रिया-कलाप और उनके साथ जुड़े हुए विचारों एवं उद्देश्यों को परखते रहना चाहिये कि निकृष्ट स्तर के- नर-पशुओं के-स्तर पर तो नहीं चल रहे हैं। यदि इनमें दोष पाये जायँ तो तुरन्त उसके स्थान पर सुधरी हुई रूप-रेखा उपस्थित करनी चाहिये और दोष के स्थान पर गुण को-अनुपयुक्त के स्थान पर उपयुक्त को-प्रतिष्ठित करना चाहिये। जो गलत किया जा रहा है, उसके स्थान पर सही क्या हो सकता है, यह निर्णय करने के लिये पक्षपातरहित विवेक की आवश्यकता है।

आमतौर से हर मनुष्य अपने साथ रियायत और पक्षपात करता है। यह भूल सुधारनी चाहिये। जैसे गलत विचार या गलत काम अपने हैं, यदि वैसे ही कोई दूसरा करे और पूछने आवे कि मुझे इन्हें कैसे छोड़ना चाहिये? और इनके स्थान पर क्या रीति-नीति अपनानी चाहिये? तो इसके उत्तर में हम निश्चय ही बहुत कुछ उपदेश और परामर्श दे सकते हैं। वही उपदेश और परामर्श अपने

को देना चाहिये। अपने भीतर एक नया न्यायाधीश, उपदेशक, गुरु, भगवान् विकसित कर लेना चाहिये। वही अपना सुधार और मार्ग-दर्शन कर सकता है। इसी के परामर्श पर चलना चाहिए। एक-एक करके इसी प्रकार अपने दोष दुर्गुणों का अन्त होगा। आत्म-शोधन को एक महान् साधन-मान कर उसमें निरन्तर संलग्न रहने से ही हम निर्मल, निर्दोष, निष्पाप और निष्पक्ष, सद्विवेकी महामानव बन सकेंगे। आध्यात्मिक प्रगति के लिये यही राज-मार्ग है।

जीवन-साधना का दूसरा चरण अपने भीतर सद्गुणों, उत्कृष्टताओं, योग्यताओं और क्षमताओं को विकसित करना है। असत्य, हिंसा, चोरी, व्यभिचार, नशा आदि दुर्गुणों को छोड़ देना ऐसा ही है, जैसे किसी पौधे की जड़ को काटने में लगी हुई दीमकों को हटा देना। इससे एक कठिनाई तो दूर हुई पर पौधे के विकास का पथ प्रशस्त कहाँ हुआ? उसके लिए खाद-पानी की उपयुक्त आवश्यकतायें भी पूरी करनी होंगी। अन्यथा बेचारा पौधा बढ़ेगा कैसे? मानवोचित योग्यता और विशेषताओं को बढ़ाने में उस शक्ति को लगा देना चाहिये जो दोष दुर्गुणों में बर्बाद होने से बचाई गई है। बहुत-सा समय मनोयोग और धन बेकार बातों में नष्ट किया जाता रहता है। उस बर्बादी को बचा लेना ही काफी नहीं वरन् यह भी आवश्यक है कि उस बचत से अपनी विशेषताओं को बढ़ाया जाय। रोग दूर करने के लिए चिकित्सा, उपचार करना चाहिये पर यह भी ध्यान रखना चाहिये कि रोगजन्य दुर्बलता दूर करने के लिए पौष्टिक आहार-बिहार का भी प्रबन्ध किया जाय। दोषों को हटा देना औषधि उपचार की तरह है और गुणों का अभिवर्धन उत्तम आहार-बिहार का प्रबन्ध करने की तरह।

अपनी शारीरिक और आत्मिक क्षमतायें बढ़ाना जीवन साधना का अनिवार्य अङ्ग है। आहार-बिहार का संयम किये बिना—ब्रह्मचर्य, व्यायाम, स्वच्छता, विश्राम, सात्विक आहार का ध्यान रखे बिना शारीरिक स्वस्थता को स्थिर नहीं रखा जा सकता है, इसलिए

इन बातों पर पूरा ध्यान देना चाहिए। आलस्य को सबसे बड़ा शत्रु मानना चाहिए समय के एक-एक क्षण का सदुपयोग करना चाहिए बेकार कभी भी नहीं बैठना चाहिये। दिनचर्या ऐसी बनानी चाहिए, जिसमें समय की बर्बादी के लिए तनिक भी गुंजायश न रहे।

मानसिक स्वरूप की रक्षा के लिए चिन्ता, निराशा, आशंका, भय, क्रोध, आवेश, ईर्षा, द्वेष, जैसे मनोविकारों से बचना आवश्यक है। कामुकता भरी कल्पनायें अति घातक हैं। उनसे मस्तिष्क की सारी पवित्रता नष्ट हो जाती है। सन्तानोत्पादन की आवश्यकता समझ में आ सकती है पर अश्लील विचारों का मस्तिष्क में घुमाते रहना और बहुमूल्य मनोयोग को किसी रचनात्मक चिन्तन में लगाने की अपेक्षा इन बे-सिर-पैर की बातों में नष्ट करना सर्वथा अवांछनीय है। इसी प्रकार उपरोक्त अन्य मनोविकार भी मस्तिष्क की सारी सृजनात्मक क्षमता को अपने ही जंजालों में उलझाए रह कर उसे नष्ट करते रहते हैं। इतना ही नहीं वरन् मानस क्षेत्र को विषैला कर उसे इतना दुर्बल बना देते हैं कि किसी महत्त्वपूर्ण योजना को बनाने और उसे ठीक तरह चलाने की क्षमता ही नहीं बनती है।

अतएव मनोविकारों ने यदि मस्तिष्क में अड्डा जमा लिया हो तो सफाई करने के लिए तत्पर होना ही चाहिए। उत्साह, धैर्य, साहस, संतुलन, विनोद, सन्तोष, परिश्रम, संयम जैसे सद्गुणों को विकसित करना चाहिए। जीवन हल्का-फुलका होना चाहिए, हँसते-खेलते हलके मन से सारे काम करने चाहिए। हर काम जिम्मेदारी और तत्परता से करना चाहिए पर मस्तिष्क पर उसका दबाव और तनाव जरा भी नहीं पड़ने देना चाहिये। जीवन एक खेल की तरह जानना चाहिये। प्रतिकूल परिस्थितियाँ, हानियाँ एवं आशंकाओं को मस्तिष्क पर हावी नहीं होने चाहिये। जो हँसी-खुशी की हल्की-फुल्की जिन्दगी जी सकता है वही जीना जानता है। भारी लाश की तरह जिन्दगी की गाड़ी रोते, कलपते खींचने वाले अविवेकियों की तरह नहीं। हमें दृष्टा और साक्षी की तरह हँसी-खुशी भरा जीवन

जीना चाहिये। पाप और कुविचारों को मस्तिष्क में प्रविष्ट नहीं होने देना चाहिये। तृष्णा और वासना की लानत को नहीं ओढ़ना चाहिये। यह दोनों ही चुड़ैल ऐसी हैं जो बेशकीमती जिन्दगी को अपने ही कुचक्र में फँसा कर नष्ट कर देती है। हमें सन्तोषी होना चाहिये संग्रही नहीं। कामुकता, धन-संचय, और बाहबाही लूटने की विडम्बनायें बाल-बुद्धि की प्रतीक हैं। इन बचकानी बातों में अपनी शक्तियाँ नष्ट होने से बचा कर उन कार्यों में लगानी चाहिये जो आत्म कल्याण और विश्व-कल्याण के महान् प्रयोजनों को पूरा करने के लिये आवश्यक हैं।

स्वाध्याय नित्य करना चाहिये। जीवन-निर्माण के लिये उपयुक्त सत्साहित्य नित्य पढ़ना चाहिये। मस्तिष्क पर सारे संसार में फैले हुए अनुपयुक्त वातावरण की छाप अनायास ही पड़ती रहती है। इस मलीनता को रोज स्वच्छ करने के लिए स्वाध्याय तथा सत्संग ही एक मात्र उपाय है। इस जमाने में सत्संग के नाम पर भ्रम-जंजाल में भटका देने वाले साधु बाबाओं और कथा-वाचकों की ऐसी माया फैली पड़ी है जो सीधे रास्ते पर चलने वालों को उल्टा भटका दे। अब सत्संग भी लगभग असम्भव है क्योंकि विचारशील व्यस्त रहते हैं और जिनके पास समय है, वे उल्टे भ्रम में डालते हैं। सामाजिक विचारशील और चरित्रवान् लोगों का सत्संग उनके साहित्य से ही मिल सकता है। युग-निर्माण-योजना द्वारा प्रस्तुत सत्-साहित्य ही हमारी स्वाध्याय की आवश्यकता को पूरा कर सकता है।

शरीर और मन ही नहीं आत्मिक स्तर का विकास भी किया जाना चाहिए। इसके लिए परामर्श प्रयोजनों के कुछ कार्य अवश्य करने चाहिए। दान-पुण्य के नाम पर धन की बर्बादी करने वाले बहुत हैं, हमें विवेकपूर्ण परमार्थ करना चाहिये। जिनसे विश्व में सत्प्रवृत्तियों को, सदाचरण को, सद्भावनाओं को प्रोत्साहन मिले, वे ही कार्य परमार्थ है। ऐसे परमार्थ कार्यों में अपने समय, श्रम,

बुद्धि, मनोयोग, धन एवं व्यक्तित्व का एक अंश नियमित रूप से लगाते रहना चाहिये। हमें अपने लिये ही नहीं, दूसरों के लिए, भी जीना चाहिये। इस संसार में हमने बहुत कुछ पाया है! आहार, वस्त्र, विद्या, व्यवहार, धन, मनोरंजन आदि सब कुछ समाज का ही दिया हुआ है, इसके बदले हमें भी कुछ ऐसे प्रयत्न निरन्तर करते रहमे चाहिये, जिनसे इस संसार की उत्कृष्टता में अभिवृद्धि होती चले।

आत्म-बल वृद्धि के लिए उपासना, आत्म-शोधन और परमार्थ तीनों का ही समावेश आवश्यक है। भगवान् का नित्य स्मरण करें। अपने दोष, दुर्गुणों से नित्य संघर्ष करे और उन्हें हटावे। सद्‌गुणों और योग्यताओं को बढ़ाने के लिये नित्य पुरुषार्थ करे। निजी, पारिवारिक एवं सामाजिक उत्तरदायित्वों को पूरी-पूरी ईमानदारी और तत्परतापूर्वक निवाहे। जीवन अपने और अपने घर वालों के लाभ में ही न जी डालें वरन् देश, धर्म, समाज, संस्कृति को ऊँचा उठाने के लिए भी समुचित ध्यान दें, प्रयत्न करे और जितना सम्भव हो अधिक-से-अधिक त्याग भी करे। उसी रीति-नीति पर सुसंचालित जीवन क्रम 'साधना' कहलाता है। हमें ईश्वर की उपासना और जीवन की साधना, उत्कृष्ट भावनाओं के साथ करनी चाहिये। तभी जीवनोद्देश्य की प्राप्ति सम्भव हो सकेगी।

साधना आवश्यक है, अनिवार्य है।

मनुष्य की अनेक विशेषताओं में एक विशेषता यह भी है कि उसे जिस ढाँचे में ढाला जाय उसमें वह ढल सकता है अन्य प्राणियों में यह विशेषता नहीं है। सिंह, अजगर, बाज आदि हिंसक प्राणी अहिंसक नहीं बन सकते। गाय, हिरन, कबूतर, तितली आदि प्राणी अपनी अहिंसक प्रकृति को नहीं बदल सकते। अन्य सभी जीव जन्तु अपनी एक निश्चित प्रकृति लेकर आते हैं और साधारणतः उसी स्थिति में जीवनयापन करते हैं। किन्तु मनुष्य पर यह बात लागू नहीं होती। वातावरण, परिस्थिति और प्रयत्न से उसकी प्रकृति बनती

और बिगड़ती है। एक ममुष्य से दूसरा मनुष्य शारीरिक दृष्टि से सूरत शकल से तो बहुत कुछ मिलता-जुलता है पर प्रकृति, योग्यता, क्षमता, गुण, स्वभाव, दृष्टिकोंण आदि मानसिक परिस्थितियों में भारी अन्तर देखा जाता है। एक का जीवन देवता जैसा है तो दूसरे का दानव जैसा। एक उन्नति के शिखर पर तेजी से चढ़ता चला जा रहा है तो दूसरा पतन के गर्त में द्रुत गति से गिर रहा है। एक ने पुरुषार्थ का मार्ग अपना कर अपनी शक्तियों को विकसित करके आश्चर्यजनक प्रगति की है तो दूसरा आलस्य और प्रमाद में पड़ा हुआ दीन-हीन बन रहा है।

प्रगति और पतन के अनेक क्षेत्र है। परिस्थितियों के आधार पर मनुष्य उनमें से किसी भी ओर अग्रसर होता है और जिस दिशा में कदम बढ़े थे उसी के अनुरूप बनता और चलता चला जाता है। प्रयत्नों के द्वारा मनुष्य को ढाला जा सकता है, ढल सकता है। इस ढलने और ढालने की क्रिया को "साधना" कहते हैं। व्यक्ति के निर्माण की विद्या को साधना कहा जाता है। इसे ही 'संस्कृति' भी कहते हैं, ऐसे मनुष्य भी एक पशु ही है, उसमें भी सब पाशविक दुर्गुण मौजूद हैं पर साधना द्वारा संस्कृति के आधार पर उस पर संस्कार डाले जाते हैं। तभी वह संस्कृत एवं सभ्य कहलाने का अधिकारी बनता है। इसी प्रयत्न से उसकी प्रसुप्त स्थिति में पड़ी हुई महान विशेषताएँ विकसित होती हैं।

जैसे-तैसे जीवित रहने और दिन काटने की स्थिति तो साधारण रीति से भी प्राप्त हो जाती है पर यदि किसी दिशा में प्रगति करनी हो तो प्रयत्न पूर्वक साधना का मार्ग ही अपनाना पड़ता है। ढालने और ढलने की प्रक्रिया को अपनाना पड़ता है। शारीरिक दृष्टि से उन्नति करने के इच्छुक व्यायाम की साधना करते हैं और स्थिर चित्त एवं उत्साह के साथ दीर्घकाल तक उसी ओर लगे रहे तो एक दिन अच्छे खिलाड़ी—अच्छे पहलवान, अच्छे नट और सुन्दर सुडौल निरोग दीर्घायु बनने में सफल होते हैं। शिक्षा की दृष्टि से उन्नति करने

के इच्छुक शिक्षालयों में प्रविष्ट होते हैं, शिक्षकों का मार्गदर्शन ध्यानपूर्वक ग्रहण करते हैं, पाठ्य क्रम को हृदयंगम करने के लिये दिन रात पढ़ते हैं, इस प्रकार प्रयत्न करते करते एक दिन विद्वान् बन जाते हैं। आर्थिक क्षेत्र में प्रगति करने वाले व्यापार आदि के साधन जुटाते हैं, उनकी बारीकियें को समझने के लिए आवश्यक शिक्षण प्राप्त करते हैं, ग्राहकों को आकर्षित करने की व्यवस्था सीखते हैं। भारी दौड़-धूप करते हैं, प्रतिस्पर्धा में टिके रहने की कुशलता बरतते हैं, अपव्यय को रोकते हैं तब कहीं इस अर्थ साधना से धनवान बनने की सिद्धि प्राप्त करते हैं।

इञ्जीनियर, डाक्टर, शिल्पी मेकेनिक, वैज्ञानिक संगीतज्ञ, गायक, नर्तक, कलाकार, कवि, लेखक आदि की विशेषताएँ अनायास ही किसी को प्राप्त नहीं हो जाती, वरन् इसके लिए चिरकाल तक निरन्तर प्रयत्न करते रहना पड़ता है, तब कहीं यह सफलताएँ उपलब्ध होती हैं। यदि यह प्रयत्न एवं साधन न जुटें तो इन विशेषताओं को प्राप्त कर सकना भला किसी के लिये कैसे संभव हो सकता है?

जिस प्रकार मनुष्यों में शारीरिक दृष्टि से साधारण सा ही अन्तर होता है, इसी प्रकार मानसिक दृष्टि से भी थोड़ा-सा ही अन्तर है। यदि हम किसी को पतनोन्मुख देखते हैं तो इसका कारण उसकी साधना एवं साधन ही हैं। व्यक्ति गीली मिट्टी के समान है निश्चय ही वह साधनों के आधार पर, साधनाओं के आधार पर ढाला जाता है।

उपरोक्त भौतिक क्षेत्रों में जिस प्रकार साधना एवं साधनों की आवश्यकता होती है उसी प्रकार गुण, स्वभाव, आदत, चरित्र, आचरण, आदर्श, विश्वास, भावना, दृष्टिकोण आदि मानसिक विशेषताओं के निर्माण में भी साधना, एवं साधन ही प्रधान कारण हैं। यदि उनकी ओर उपेक्षा रखी जाय तो असंस्कृत स्थिति ही बनी रहेगी। जिनकी मनोभूमि का सावधानी पूर्वक निर्माण नहीं हुआ है, वे अपने प्रयत्नों से किन्हीं भौतिक सफलताओं में सफल भले ही हो गये हों, आन्तरिक दृष्टि से हीन दशा में ही पड़े रहेंगे और यह हीनता

उन्हें कभी भी महान पुरुष की, सभ्य नागरिक की, श्रेष्ठ मानव की स्थिति में न पहुँचने देगी। यह अभाव मानव जीवन का सबसे बड़ा अभाव है।

साधना मानव जीवन की एक अनिवार्य आवश्यकता है। व्यक्तित्व को किसी दिशा में ढालने का कार्य साधना द्वारा ही सम्पन्न होता है। कमाऊ और सम्मानास्पद कार्यों में ही नहीं चोरी, डकैती, जेबकटी, ठगी जैसी बुराइयों में भी माहिर बनने के लिए उन कार्यों का अनुभव एवं शिक्षण प्राप्त करना होता है, उनके लिए भी साधना ही अभीष्ट है। दिन काटने की हीन स्थिति से आगे बढ़कर किसी ने यदि भली या बुरी दिशा में कुछ प्रगति की है तो उसे उस दिशा में साधना अवश्य करनी पड़ी है। साधना ही वह कल्पवृक्ष है जिसकी छाया में मनुष्य के विविध मनोरथ पूरे होते हैं।

सुख प्राप्त करने के लिए अनेक उपकरण जुटाने में लोग व्यस्त हैं, उनके लिये साधनाएँ भी प्राप्त कर रहे हैं और सफलताएँ भी प्राप्त कर रहे हैं, इससे एक क्षण के लिये लगता है कि बुद्धिमत्ता की मात्रा इन दिनों काफी बढ़ी है। पर एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण आवश्यकता की ओर जन साधारण की उपेक्षा देखकर दूसरे ही क्षण ऐसा लगता है मानों दूरदर्शिता का, सूक्ष्म दृष्टि का दिवाला ही निकल गया हो। मनुष्य का वास्तविक विकास उसके उद्‌गुणों, उच्च विचारों, श्रेष्ठ विचारों और सुदृढ़ आदर्शों पर निर्भर रहता है। यदि यह निर्माण न हुआ तो धन, पद, स्वास्थ्य, योग्यता आदि की दृष्टि से कोई व्यक्ति कितना ही बढ़ा चढ़ा क्यों न दीखे अपने आपमें सदा असंतुष्ट रहेगा और उसके सम्पर्क में आने वाले लोग खिन्न एवं क्रुद्ध ही रहेंगे। दुर्गुणी दुर्भावनायुक्त, दुश्चरित्र, आदर्शहीन, स्वार्थी, अशिष्ट, अहङ्कारी, बुरी आदतों से ग्रसित, दुर्व्यसनी आलसी, प्रमादी लोग अपने भौतिक योग्यताओं के आधार पर बाहर से सफल भले ही दीखें वस्तुतः वे नितान्त असफल ही होते हैं। न तो उनका कोई सच्चा मित्र होता है और न उन्हें किसी का स्नेह सद्‌भाव ही प्राप्त होता है। अपने दुर्गुण

उन्हें भीतर ही भीतर बुरी तरह जलाते रहते हैं। कभी भी उन्हें शान्ति और सन्तोष के सौभाग्यपूर्ण स्वर्ग का दर्शन नहीं होता है। उनकी अन्तःस्थिति श्मशान की दुर्गन्धित धुँऐ से भरी और सुलगती सी बनी रहती है। ऐसे लोग यदि बाहरी दृष्टि से कुछ सफल भी हों तो वह सफलता किस काम की?

आन्तरिक क्षेत्र का असंस्कृत, अव्यवस्थित पड़ा रहना, उनमें दुर्भावनाओं और पतित आदर्शों के झाड़ झाँकड़ उपज पड़ना सभी दृष्टियों से दुर्भाग्यपूर्ण है, इन परिस्थितियों में पड़ा हुआ मनुष्य व्यक्तिरूप से कभी भी सुख-शान्ति, आनन्द, उल्लास एवं सन्तोष का अनुभव नहीं कर सकता। इस अभाव के रहते हुए उसकी सारी सफलताएँ और उपर्जित सम्पदाएँ एक प्रकार से व्यर्थ ही रहती हैं।

सामाजिक दृष्टि से विचार किया जाय तो भी अविकसित असंस्कृत एवं पतित मनोभूमि के लोग समाज के लिए कलङ्क, मानव जाति के लिए अभिशाप और राष्ट्र के लिए भार रूप ही हैं। किसी भी देश और समाज की वास्तविक सम्पदा उसके सभ्य नागरिक एवं उच्च आदर्श वाले महापुरुष ही होते हैं। उन्हीं से किसी देश का इतिहास बनता और गौरव बढ़ता है। शान्ति और सुव्यवस्था भी ऐसे ही लोगों से स्थिर रहती है। पर यदि समाज में बेईमान, निकम्मे, भ्रष्टाचारी, स्वार्थी लोगों की भरमार हो जाय तो फिर उसकी दुर्गति होना निश्चित ही है। कानून और शासन के द्वारा व्यक्ति की आन्तरिक दुष्टता पर अंकुश कहां तक लगेगा? न्याय और शासन का कार्य भी तो वे असंस्कृत मनोभूमि के लोग ही जब चलाने वाले हैं तो उनके द्वारा भी कब, कुछ बनने वाला है। सामाजिक पतन को कानूनों के बल पर प्रजातन्त्र व्यवस्था में नहीं रोका जा सकता। निरंकुश अधिनायकवाद में अत्यन्त कठोर दंड व्यवस्था का आतंक स्थापित करके भले ही उन हीन मनोभूमि के लोगों को किसी हद तक काबू में रखा जा सके पर स्वाभाविक सद्भावना का पुण्य, प्रसाद तो तब भी परिलक्षित न होगा।

वैयक्तिक और सामूहिक सुख-शान्ति की सच्ची स्थापना सदाचार से ही संभव है और वह सदाचार स्वभावत: तो किसी विरले को ही प्राप्त होता है। साधना और साधनों से ही उसे उत्पन्न करना पड़ता है। प्राचीन काल में इस ओर अत्यधिक ध्यान दिया जाता था। उस समय यह भली-भाँति समझा जाता था कि सद्गुणों और उच्च आदर्शों की मनोभूमि बने बिना कोई व्यक्ति न तो अपने आप में सुखी रह सकता है और न समाज की सुव्यवस्था में कोई योग दे सकता है, इसलिए सबसे पहले सबसे आवश्यक कार्य यही समझा जाता है कि व्यक्ति को आन्तरिक दृष्टि से सुसंस्कृत बनाया जाय, उसकी मनोभूमि को श्रेष्ठ संस्कारित किया जाय। इस आवश्यकता की पूर्ति के लिए आस्तिकता और धार्मिकता के दो माध्यम प्रयुक्त किये जाते थे। भारत के प्रत्येक नागरिक को धार्मिक एवं आस्तिक बनने के लिए साधना करनी पड़ती थी। आत्मनिर्माण की यह साधना जीवन का सर्वश्रेष्ठ सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण कार्य माना जाता था। जब तक यह प्रक्रिया भारतवर्ष में चलती रही यहाँ प्रत्येक क्षेत्र में महानता का, उत्कृष्टता का, समृद्धि और सफलता का बोल बाला रहा। अब उस दिशा में जितनी ही उपेक्षा होती है उतनी ही अशाँति और अव्यवस्था बढ़ती जा रही है। प्राचीन गौरव की तुलना में हम दिन-दिन नीचे उतर रहे हैं।

मनुष्य की शारीरिक भूख इन्द्रिय विषयों से, सत्ता, पद, धन, अहङ्कार श्रृंगार, विलासिता आदि के आधार पर पूर्ण हो सकती है, पर इन सबसे जो सुख मिलेगा वह ऊपरी ही रहेगा। कुछ ही समय ठहरेगा। आत्मिक भूख की तृप्ति उन विचारों और कार्यों से ही संभव है जो आत्म संतोष देने वाले हैं। सद्विचारों, सद्भावों, सद्गुणों, सत्कर्मों की मात्रा जितनी अधिक होगी उतना ही आत्म-संतोष बढ़ेगा। आत्म तृप्ति के लिए किये गये वह प्रयत्न बाह्य जीवन में भी एक अद्भुत सरसता का संचार करते हैं। सत् प्रवृत्तियों से मनुष्य का व्यवहार और आचरण दूसरों के लिए सुखदायक होता है। सद्गुणी

व्यक्ति अपने परिवार के प्रत्येक सदस्य की भाँति ही बाहर के सब लोगों के साथ भी सौजन्यपूर्ण व्यवहार करता है। उसकी प्रतिक्रिया स्वभावतः लोगों के प्रेम, सद्भाव एवं सम्मान के रूप में उपलब्ध होती है। लोग उसके आचरण से प्रभावित होकर अनायास ही सद्भाव रखने लगते हैं। और उसे अपने चारों ओर प्रेम एवं सौजन्य का समुद्र लहराता दीखता है। यही अनुभव यही लाभ जीवन का सर्वश्रेष्ठ आध्यात्मिक लाभ है। उसके बिना जीवन सर्वदा नीरस ही रहता है।

परस्पर स्नेह सद्भाव, सौहार्द्र और सहयोग होने पर जीवन में रस आनन्द और उल्लास रहता है। वह इनका अभाव होने पर अपार वैभव द्वारा भी नहीं मिल सकता। इस वस्तुस्थिति को समझ कर हमारे पूर्वज सदा व्यक्ति के सद्गुणों और उच्च आदर्शों को पुष्ट करने पर जोर देते रहे। इसी के लिए आध्यात्मिकता का, धार्मिकता का विशाल ढाँचा खड़ा किया था। गुरुकुलों में छात्रों का जो शिक्षण होता था उसमें सत्प्रवृत्तियों के विकास एवं पोषण की ही साधना उनसे कराई जातीथी। वर्णाश्रम धर्म, षोडस संस्कार, व्रत, पर्व त्यौहार, तीर्थ, कथा, कीर्तन, अनुशासन, तप, संयम आदि की पृष्ठभूमि, व्यक्ति की मनोभूमि को उच्च स्तर की ओर अग्रसर करती ही है।

खेद की बात है कि जहाँ भौतिक विकास के लिए इतने प्रयत्न हो रहे हैं। वहाँ मनुष्य की अन्तः भूमि के परिष्कार की दिशा में सर्वत्र उदासीनता और उपेक्षा दिखाई देती है। इस अवस्था के रहते उन्नति के लिए अन्य प्रयत्न असफल ही रहेंगे। धन और शिक्षा की दृष्टि से यदि लोग सम्पन्न भी हुए तो उससे आन्तरिक दुर्गुणों के रहते कोई सत्परिणाम निकलने की सम्भावना नहीं है। सम्पन्नता मिलने पर तो दुर्गुणी के दुर्गुण और भी अधिक बढ़ते हैं और वह अपेक्षाकृत और भी अधिक विपत्ति में फँस जाता है।

मनुष्य की आत्मा में अनन्त सत् तत्व सन्निहित है। उसको कुरेदा और बढ़ाया जाना चाहिए। सम्पन्नता की अभिवृद्धि के लिए

प्रयत्न हो रहे हैं वे सराहनीय हैं पर साथ ही मानवीय महानता के उत्थान को भी ध्यान में रखा जाना चाहिए। यह आत्म निर्माण की साधना का कार्य अत्यन्त ही उपयोगी एवं आवश्यक है। शुष्क उपदेशों के द्वारा तो यह कार्य बनने वाला नहीं है इसके लिए साधना का मार्ग उसी प्रकार अपनाना पड़ेगा जिस प्रकार धन, स्वास्थ्य, विद्या, यश आदि की प्राप्ति के लिए सुनिश्चित प्रयास करना पड़ता है।

साधना के नाम पर आज देवी देवताओं की पूजा पाठ का कर्मकाण्ड शेष रह गया है। यह अपूर्ण है। देवार्चन भी आत्मा साधना का एक अङ्ग है पर वही सब कुछ नहीं है। दुष्प्रवृत्तियों पर अंकुश लगा कर अपने अन्दर की असुरता को समाप्त करने और सत्प्रवृत्तियों का परिपोषण करके अन्तःभूमिका में देवताओं जैसे स्वर्ग सोपान की स्थापना करने का वैधानिक प्रयास ही साधना का वास्तविक उद्देश्य है। ऐसी ही साधना प्राचीन काल में होती थी। आज भी आत्म निर्माण की दृष्टि से, वैयक्तिक और सामूहिक सुखशान्ति की दृष्टि से ऐसी साधना की आवश्यकता है। साधना के साथ ही हर क्षेत्र की सफलता जुड़ी हुई है। आत्म निर्माण की सर्वोपरि आवश्यकता की पूर्ति के लिए भी हमें साधना का ही मार्ग अपनाना पड़ेगा। जीवन लक्ष की सफलता अभीष्ट हो तो साधना आवश्यक है, अनिवार्य है, यह तथ्य स्वीकार करना ही होगा।

साधना की महानता

आध्यात्मिक साधनाओं का मूल उद्देश्य आत्म निर्माण है। जीवन की सारी समस्याओं का उलझना-सुलझना बहुत

बहुत करके मनुष्य की आन्तरिक स्थिति पर निर्भर रहता है। यों कभी-कभी कठिन प्रारब्ध भोग भी मार्ग में विघ्न बाधा बनकर अड़ जाते हैं और हटते-हटते बहुत परेशान कर लेते हैं, पर आमतौर से जीवन की गतिविधि व्यक्ति की अपनी निजी मनोभूमि पर आधारित रहती है।

जिसे क्रोध आता है उसे सब कोई अपने प्रति-पक्षी, दुष्ट और झगड़ालू दीखते हैं। जिसके मन में ईर्षा और द्वेष की प्रबलता है उसे सर्वत्र शत्रु और दुष्ट ही दिखलाई पड़ते हैं। आलसी को सब कार्य कठिन और सफलता के मार्ग में चारों ओर भारी विघ्न उपस्थित लगते हैं। विषय विकारों से जिसकी दृष्टि दूषित हो रही है उसे हर कोई व्यभिचारी लगता है। जिनकी प्रकृति अविश्वासी और छिद्रान्वेषी बन गई है तो उसे हर कोई संदिग्ध, धूर्त और दोषी प्रतीत होता है। डरपोक को चारों ओर से अपने ऊपर आपत्तियाँ मँडराती लगती रहती है। पतित दृष्टिकोण के लोगों को इस संसार में केवल पाप, पतन, छल, शोषण आदि दुष्टप्रवृत्तियों का बोलबाला दृष्टिगोचर होता है। माना कि संसार में अनेक बुराइयाँ मौजूद हैं और उनकी मात्रा भी बहुत है पर इसका तात्पर्य यह कदापि नहीं है कि यहाँ बुराई के अतिरिक्त और कुछ है ही नहीं। निश्चित रूप से इस धरती पर बुराई की अपेक्षा भलाई कहीं अधिक है। पाप की अपेक्षा पुण्य की मात्रा ज्यादा है, कठिनाइयों से सुविधाएँ अधिक हैं, दुष्टता से सज्जनता बढ़ी-चढ़ी है। यदि ऐसा न होता तो यह दुनियाँ इस योग्य न रहती कि परमात्मा का पुत्र आत्मा जहाँ अवतार लेता और मृत्यु की अपेक्षा जीवन को अधिक प्यार करता।

प्याज खा लेने से मुँह से बदबू आती है, नशा पी लेने पर पागलपन छा जाता है, सनाय खा लेने से दस्त होने लगते हैं, विषपान करने वाले के सामने मृत्यु की विभीषिका उपस्थित हो जाती है। इसी प्रकार जिनकी मनोभूमि असंस्कृत, पतनोन्मुख निम्नस्तर की एवं उलझन भरी है उनका बाह्य जीवन निश्चित रूप से अस्त-व्यस्त रहेगा। जितनी कुछ साधन सामग्री प्राप्त है वह सभी अपर्याप्त और दोषपूर्ण लगेगी। जितने व्यक्ति अपने साथ में किसी सम्बन्ध सूत्र में बँधे हैं वे सभी बुराइयों और बदमाशियों से भरे लगेंगे। जो भी परिस्थिति प्राप्त हैं वे सभी दुर्भाग्यपूर्ण प्रतीत होंगी। इस प्रकार का अनुभव करते रहने वाला न तो कभी सुखी रह सकता है और न सन्तुष्ट, उसे खिन्नता झुंझलाहट परेशानी और जलन ही घेरे रहेगी।

स्वार्थी दृष्टिकोण वाला व्यक्ति सदा अपना ही मतलब प्रधान रखेगा। दूसरों के न्यायोचित स्वार्थों को भी धक्का पहुँचा कर अपना स्वार्थ सिद्ध करेगा। ऐसे लोगों के प्रति भला किसके मन में श्रद्धा और सम्मान का भाव उठेगा। जिसने दूसरों के प्रति कभी सेवा और सहयोग का व्यवहार नहीं किया उसे अपने प्रति किसी उपकार की क्या आशा करनी चाहिए? कृतघ्न व्यक्ति दूसरों के उपकार और अहसान को तुरन्त भुला देता है किसी में सज्जनता की झांकी किस प्रकार कर सकेगा? कृतज्ञता और प्रत्युपकार की उच्च भावनायें उसके मन में कैसे उठेंगी? निष्ठुर, निर्दय और क्रूर व्यक्ति दया और करुणा की स्वर्गीय अनुभूति कहाँ कर पायेगा? अहङ्कार में जो डूबा रहता है, उसे नम्रता, विनय, शिष्ट और सभ्य व्यवहार करने की मधुरता का अनुभव क्या होगा? खुदगर्ज व्यक्ति के लिए निःस्वार्थता का दिव्य रस आस्वादन कर सकना प्रायः असम्भव ही है।

जिसने अपनी मनोभूमि को सुसंस्कृत बनाने की साधना नहीं की, जिसके मनमें केवल पाशविक संस्कार ही भरे पड़े हैं उसके लिये परमात्मा की पुनीत कृत्ति–यह दुनियां–दुर्गन्ध भरे जलते हुए श्मशान के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। हो सकता है ऐसे लोगों को पूर्व पुण्यों से, चतुरता और पुरुषार्थ से भौतिक ऐश्वर्य प्राप्त हुआ हो, पर क्या इतने मात्र से सुख–शान्ति प्राप्त हो सकती है? भौतिक सम्पदाएँ केवल झंझट बढ़ा सकती हैं, जिम्मेदारियों और चिन्ताओं के बोझ से लाद सकती हैं, थकान और झुँझलाहट दे सकती है पर शान्ति और सन्तोष में इनसे कण भर भी वृद्धि न होगी। आन्तरिक स्थिति का, मनोभूमि का परिष्कार ही एक मात्र वह उपाय है जिससे बाहर की हर वस्तु और हर परिस्थिति अनुकूल बन सकती है। बेशक इस दुनिया में ऊबड़ खाबड़ भी बहुत है पर जिसने अपने दृष्टिकोण को परिमार्जित और सुसंस्कृत बना लिया है उसके लिए अवाँछनीय तत्त्वों की अशुभ प्रतिक्रिया से अपने को बचाये रखना बहुत हद तक संभव है। जिसका सोचने का तरीका सही है, जिसके

विचार और आदर्श उच्चस्तर के हैं वह अनायास ही इस संसार के दिव्य तत्त्वों को, सज्जनता को अपनी ओर आकर्षित कर सकता है और उनके सहयोग से लाभान्वित होकर मानव जीवन की सरसता का बहुत कुछ अनुभव कर सकता है।

जीवन में उपस्थित अधिकाँश कठिनाइयां ऐसी होती हैं जिनमें समाज या दूसरे व्यक्तियों द्वारा उपस्थित कठिनाइयों की अपेक्षा अपनी जिनकी भूल एवं अशुद्ध दृष्टि ही प्रमुख कारण होती है। स्वास्थ्य बिगड़ रहा है—क्या इसमें अपना आहार बिहार की मर्यादाओं का उल्लंघन एवं असंयम का कोई कारण नहीं रहा है? निश्चय ही यदि स्वास्थ्य के नियमों पर दृढ़ता पूर्वक चला गया होता तो अस्वस्थता का जो दुःख आज भोगना पड़ रहा है, न भोगना पड़ता।

आर्थिक तङ्गी परेशान कर रही है—क्या इसमें अपनी फिजूलखर्ची और उपार्जन में उपेक्षा कारण नहीं है? चूँकि दूसरे अधिक आमदनी वाले लोग अधिक खर्च करते हैं तो हम भी उनकी नकल करके वैसी ही शान बनायें इस प्रकार से सोचना और अपनी हैसियत से अधिक खर्च करना कहाँ तक उचित है? जब कि हमसे कम कमाने वाले गरीब लोग भी अपनी हैसियत के अनुरूप बजट बनाते और उसी में सन्तोष तथा व्यवस्था पूर्वक कार्य चलाते हैं तो हम वैसा क्यों नहीं कर सकते? जब अन्य लोग हमारी अपेक्षा अधिक परिश्रम अधिक दौड़ धूप करके, शान और शेखी की परवा न करके हलके समझे जाने वाले काम भी प्रसन्नता पूर्वक करते हैं और अपने उचित खर्चों के लायक कमा लेते हैं तो हम आलस और शान शेखी की आड़ लेकर बढ़िया अवसर की प्रतीक्षा में क्यों बैठे रहें? यदि हमारा आर्थिक दृष्टिकोण सही हो, उपार्जन और व्यय के संबंध में समुचित सावधानी रहे तो ऋणी होने का, आर्थिक तङ्गी पड़ने का कोई कारण नहीं रह जाता। यह तङ्गी हम अपनी ही दुर्बलताओं के कारण पैदा करते हैं और उनमें सुधार भी तभी होता है जब हमारी अपनी आदतें सुधरती हैं।

कोई सच्चा मित्र नहीं दीखता, शत्रुओं की संख्या बढ़ती जाती है–क्या इसमें अपनी असहिष्णुता, कृतघ्नता, स्वार्थपरता, अशिष्टता, रूखापन आदि का कोई दोष नहीं है? जो लोग दूसरों से मित्र भाव रखते हैं वे हमारे प्रति शत्रुता क्यों बरतते हैं, इस पर यदि कोई गंभीरता से विचार करे और बारीकी से आत्म निरीक्षण करे तो सहज ही यह पता चल जायगा कि अपने अन्दर भी कुछ ऐसे दोष हैं जो लोगों की दुष्टता को उभारने में बहुत हद तक सहायक होते हैं। जिन लोगों ने अपने स्वभाव में मधुरता की आवश्यक मात्रा का समावेश कर रखा है वे दुर्जनों में भी रहने वाली थोड़ी सज्जनता को उभार लेते हैं और उनसे भी बहुत कुछ ऐसे लाभ उठा लेते है जैसे मित्रों से प्राप्त होते हैं। यह तथ्य यदि समझ में आ जाय और मनुष्य अपने स्वभाव में आवश्यक परितर्तन कर ले तो मित्रों की कमी और शत्रुओं की अधिकता वाली कठिनाई बहुत हद तक हल हो सकती है।

घर में क्लेश रहता है, स्त्री, पुत्र कहना नहीं मानते, द्वेष और दुर्भाव बढ़ रहा है—क्या इसमें अपना अनावश्यक मोह, अनुचित नियंत्रण, डाँट डपट कटु भाषण, प्यार से समझाने की उपेक्षा, आवश्यक प्रेम की कमी, न्यायोचित व्यवस्था की कमी, गुणों की प्रशंसा करने में कंजूसी आदि हमारा कोई दोष तो कारण नहीं है? हो सकता है कि हमारे परिवार के लोग अपेक्षाकृत कुछ अधिक असंस्कृत हों और उसकी बुराइयाँ औरों से अधिक बढ़ी चढ़ी हों। पर इसमें गृह संचालक का भी कुछ न कुछ दोष अवश्य रहता है। यदि आरम्भ से ही उसने अपने में गृह संचालक के उपयुक्त आवश्यक गुण उत्पन्न कर लिये होते तो परिस्थिति उस सीमा तक न बढ़ती जितनी कि आज प्रतीत होती है। आज भी, इन परिस्थितियों में भी यदि अपनी कुछ आदतों और दृष्टि दोषों को सुधार लें तो अभी भी बहुत कुछ सुधार हो सकता है और गृह क्लेश की समस्या अपने विकराल रूप में सिमट कर बहुत छोटी रह सकती है।

ऊपर की पंक्तियों में कुछ थोड़े से प्रश्नों पर विचार किया गया है। जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में ऐसी अगणित समस्याएँ हैं। जिनसे घिरा हुआ मनुष्य सदा अशान्ति एवं असन्तोष का अनुभव करता रहता है प्रयत्न यह होता है कि परिस्थितियाँ बदल जाएं। पर कोई यह नहीं सोचता कि इन प्रतिकूलताओं की जड़ अपने अन्दर है। आवश्यक हेर फेर करने का वही स्थान है। उसे सँभाला जाय और सुधारा जाय तो बाहर की गुत्थियाँ सुलझें। अपने को निर्दोष और दूसरों को दोषी मानने की प्रवृत्ति अब हर व्यक्ति में बहुत बढ़ चली है। सारा दोष दूसरों के मत्थे मढ़कर अपने को निर्दोष सिद्ध करने के लिए हर कोई तत्पर दीखता है। आत्म निरीक्षण व्यर्थ लगता है। कोई दूसरा अपने दोष बताता है तो उस पर झुँझलाहट आती है। ऐसी स्थिति के रहते भला यह कैसे आशा की जा सकती है कि कोई समस्या स्थायी रूप से हल हो जाय। दूसरों को सुधारना, अपनी मनमर्जी का बना लेना कठिन है, सब प्रतिकूलतायें अपने अनुकूल हो जाय यह भी असंभव है। प्रयत्न करने से व्यक्तियों, वस्तुओं और परिस्थितियों में थोड़ा सुधार हो सकता है पर आर्थिक सुधार तो अपने दृष्टिकोण एवं स्वभाव में ही करना पड़ेगा। बाहरी समस्याओं की कुञ्जी अपने अन्दर है। ताली से ही ताला खुलता है, अपने सुधार से ही संसार सुधरता है। दुनियाँ भर में बिखरे हुए कांटे हटा देना कठिन है पर पैरों में जूते पहन कर उनसे अपनी रक्षा सुगमता पूर्वक की जा सकती है।

वैयक्तिक जीवन की अगणित समस्याओं का हल मनुष्य को अपनी विचारधारा, भावना, आदर्शवादिता, स्वभाव, आदत एवं अभिरुचि से सम्बन्धित है। सामाजिक समस्याएँ भी व्यक्तिगत समस्याओं का ही सम्मिलित रूप हैं। जिस समाज में जिस मनोभूमि के व्यक्तियों का बाहुल्य होता है वह समाज भी उसी रूप में दिखाई पड़ता है। हमारे समाज में आज अनेकों बुराइयाँ दृष्टिगोचर होती हैं, बाल-विवाह, वृद्ध विवाह, कन्या विक्रय, वर विक्रय, नशेबाजी, मांसाहार, छुआ-छूत, मृत्युभोज, भूत-पलीत आदि कितनी ही कुरीतियाँ

प्रचलित हैं। जुआ, चोरी, बेईमानी, भ्रष्टाचार, व्यभिचार, शोषण, आक्रमण आदि अनैतिकताएँ भी पनप रही हैं। देखने में यह सामाजिक दोष मालूम पड़ते हैं। पर वस्तुतः यह भी व्यक्तिगत दुर्बलताओं की ही प्रतिक्रिया है। फूट, विसंगठन, कायरता, सामूहिकता का अभाव, देश भक्ति एवं राष्ट्र भक्ति की कमी के कारण हमारा धर्म समाज एवं राष्ट्र कमजोर होता जाता है। इन बुराइयों के लिये भी व्यक्ति ही दोषी है। राष्ट्र या समाज कोई अलग चीज नहीं, वह तो व्यक्तियों की सामूहिक स्थिति ही है। व्यक्तियों का आन्तरिक स्तर यदि सुव्यवस्थित हो तो राष्ट्रीय चरित्र एवं सामाजिक गठन स्वयमेव उत्कृष्ट रहेगा। जो लोग सामाजिक उत्थान एवं राष्ट्र निर्माण की बात सोचते हैं उन्हें यह बात भली प्रकार हृदयंगम कर लेनी चाहिए कि देश के नागरिकों के स्वभाव चरित्र और दृष्टिकोण को बदलना ही इसका एक मात्र उपाय है। इस तथ्य की उपेक्षा करके अन्य उपाय, चाहे वे कितने ही व्ययसाध्य एवं विशाल क्यों न हो कदापि अभीष्ट उद्देश्य की पूर्ति न कर सकेंगे।

व्यक्ति निर्माण का कार्य क्या भाषणों और लेखों द्वारा सम्पन्न हो सकेगा? यह एक विचारणीय प्रश्न है। आज हर काम के लिये यही दो उपाय काम में लाये जाते हैं। सामान्य जानकारी प्राप्त करने की दृष्टि से लेखों और भाषणों की भी एक सीमा तक आवश्यकता हो सकती है, पर इतने से ही काम न चलेगा इसके लिये रचनात्मक उपाय अपनाने पड़ेंगे। धार्मिकता और आस्तिकता का अन्तःकरण में प्रवेश होने से ही उन आदर्शों के प्रति निष्ठा बढ़ सकती है जो व्यक्ति की पाशविक दुष्प्रवृत्तियों का समाधान और दैवी सत्प्रवृत्तियों का उत्थान कर सकें। यही साधना, मानव जीवन की प्रत्येक गुत्थी को सुलझाने वाली, प्रत्येक कठिनाई का समाधान करने वाली मानी जाती है। यह मान्यता असत्य नहीं है। आत्मा पर छाये हुए मल विक्षेपों को जो साधना हटा सकती है वह सुख शान्ति की प्रगति और उन्नति के द्वारा भी खिल सकती है। आत्म निर्माण की वैज्ञानिक विधि व्यवस्था को ही साधना के नाम से पुकारा जाता है। आत्म

निर्माण का कार्य किसी विशाल कार्यालय या कारखाने के निर्माण से भी अधिक महत्त्वपूर्ण है। इस महान कार्य को सम्पन्न करने वाली पद्धति-साधना की महानता स्वरूप नहीं महान ही है।

तप-साधना की आवश्यकता

तैत्तिरीय उपनिषद् वल्ली ३ के द्वितीय अनुवाक में एक प्रसंग आता है कि भृगु ने अपने पिता वरुण से ब्रह्मविद्या की जिज्ञासा प्रकट करते हुए कहा:- "अधीहि भगवो ब्रह्मेति।" भगवन्! मुझे ब्रह्म का उपदेश दीजिये।

त ँ होवाच। तपसा ब्रह्म विजिज्ञासस्व। तपो ब्रह्मेति। स तपोऽतप्यत। स तपस्तप्त्वा आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात्।

तब वरुण ने कहा—तप से ब्रह्म को जानने की इच्छा कर। तप ही ब्रह्म है। तब उसने पिता की आज्ञा पाकर तप द्वारा अपने को तपाया और जाना कि ब्रह्म आनन्दमय है।

मुण्डक उपनिषद् १।१।८ में भी परमात्मा की प्राप्ति का उपाय तप को ही बताया गया है।

'तपसा चीयते ब्रह्म'

अर्थात् तप से ही ब्रह्म को जाना जाता है।

तप की महिमा असाधारण है। स्वयं ब्रह्म ने जब एक से अनेक होने की इच्छा की तो उस इच्छा की पूर्ति के लिये जिस शक्ति और साधन सामिग्री की आवश्यकता पड़ी, उसका जुटाया जाना तप के द्वारा ही संभव हो सका। सृष्टि के आदि में ब्रह्म ने स्वयं तप किया और उसके द्वारा उपलब्ध बल से अखिल ब्रह्माण्ड के रूप में अपना विस्तार किया। ब्रह्म के तप-बल से ही इस सृष्टि की सञ्चालन क्रिया भी व्यवस्थित है।

वर्णन आता है:—

सोऽकामयत। बहुस्यां प्रजायेयेति। स तपोऽतप्यत। स

तपस्तप्त्वा इदं सर्वमसृजत्। यदिदं किं च। तत्सृष्ट्वा तदेवानु प्राविशत्। तदनुप्रविश्य सच्चत्यच्चाभवत्।

—तैत्तिरीय २।६।१

"उस परमात्मा ने इच्छा की कि मैं प्रकट हो जाऊँ, एक से बहुत हो जाऊँ। इसके लिये उसने तप किया। तप से अपने को तपाया और इस जगत् की रचना की। इसे रचकर वह उसी में प्रविष्ट हो गया।"

परमात्मा की प्राप्ति के साधनों में तप का प्रमुख स्थान है। क्योंकि ब्रह्म स्वयं तप रूप है। आत्मा की शुद्धि ही ब्रह्म प्राप्ति का प्रधान आधार है और यह तभी सम्भव है जब तक की अग्नि में अपने अन्तःकरण को तप के द्वारा स्वर्ण के समान उसके मल जलाने के लिये तपाया जाय।

कहा भी है:-

सत्येन लभ्यस्तपसा ह्येष आत्मा सम्यग् ज्ञानेन ब्रह्मचर्येण नित्यम्।
अन्तःशरीरे ज्योतिर्मयो हि शुभ्रो यं पश्यन्ति यतयः क्षीण दोषाः।

—मुण्डक ३।१ ।५

परमात्मा इस शरीर के भीतर ही शुभ्र ज्योति के रूप में विद्यमान है। वह सत्य, तप, ब्रह्मचर्य और विवेक द्वारा ही प्राप्त होता है। जिनने अपने दोषों को दूर कर लिया है वे प्रयत्नशील साधक ही उसका दर्शन करते हैं।

ब्रह्म लोक में प्रवेश के लिये सत्य, ब्रह्मचर्य आदि अन्य गुणों की भी आवश्यकता है पर साधक का तपस्वी होना तो अनिवार्य ही है।

शास्त्र कहता है:—

तेषामेवैष ब्रह्मलोको येषां तपो
ब्रह्मचर्यं येषु सत्यं प्रतिष्ठितम्। (प्रश्नो० १.१५)

यह जो ब्रह्मलोक है, वह उन्हीं का है, जिनके पास तप है, ब्रह्मचर्य है और सत्य है।

ऐसा ही एक अभिवचन केन उपनिषद् में भी आता है:—

तस्यै तपो दमः कर्मेति प्रतिष्ठा वेदाः सर्वाङ्गानि सत्य-मायतनम्। —केन ४।८

जिस रहस्यमयी ब्रह्म विद्या का वेद वेदाङ्गों में विस्तारपूर्वक वर्णन है तथा उस सत्य स्वरूप परमात्मा को जिसके द्वारा जाना जाता है उसके तीन ही आधार है—१ तप २ मनोनिग्रह ३ कर्त्तव्य पालन।

प्रश्नोपनिषद् में एक कथा आती है जिसमें जिज्ञासु की प्रारम्भिक योग्यता तप साधना में प्रवृत्ति निर्देशित की गई है। सच्ची ब्रह्म जिज्ञासा का लक्षण ऋषि ने यही माना है कि इसमें लक्ष प्राप्ति के लिये कष्ट—तप करने की क्षमता है या नहीं। यदि यह क्षमता न हो तो उसे अनधिकारी ही माना जाना निश्चित है। अनधिकारी लोग ब्रह्म की चर्चा भले ही करते रहें पर उसे प्राप्त नहीं कर सकते। इस तथ्य का उद्घाटन उपनिषद्कर्त्ता ने इस प्रकार किया है—

सुकेशा च भारद्वाजः शैव्यश्च सत्यकामः सौर्यायणी च गार्ग्यः कौसल्यश्चाश्वलायनो भार्गवो वैदर्भिः कबन्धी कात्यायनस्ते हैते ब्रह्मपरा ब्रह्मनिष्ठाः परं ब्रह्मान्वेषमाणा एष ह वै तत्सर्वं वक्ष्यतीति ते ह समित्पाणयो भगवन्तं पिप्पलादमुपसन्नाः।

—प्रश्नोपनिषद् १।१

भरद्वाज के पुत्र सुकेशा, शिवि के पुत्र सत्यकाम, गर्ग गोत्री सौर्यायणि, कौशलदेशीय आश्वलायन, विदर्भ निवासी भार्गव, कत्य ऋषि के पौत्र कबन्धी, ये छै वेद परायण ऋषि परमात्मा की खोज करते हुए, हाथ में समिधा लेकर भगवान् पिप्पलाद ऋषि के पास आशा से गये कि वे ब्रह्म का व्याख्यान करेंगे।

तान्ह स ऋषिरुवाच भूय एव तपसा ब्रह्मचर्येण श्रद्धया संवत्सरं संवत्स्यथ यथाकामं प्रश्नान्पृच्छत यदि विज्ञास्यामः सर्वं ह वो वक्ष्याम इति। —प्रश्नोपनिषद् १।२

उन सुकेशा आदि ऋषियों से पिप्पलाद ने कहा–आप लोग श्रद्धा ब्रह्मचर्य और तप के साथ एक वर्ष तक यहां सज्जनों की तरह निवास करें। इसके बाद अपने-अपने प्रश्न पूछे। यदि मैं जानता होऊँगा तो निश्चय ही वे सब बातें आप लोगों को बताऊँगा।

ऋषियों ने महर्षि पिप्पलाद के आदेशानुसार उनके आश्रम में रहकर एक वर्ष तक तप किया। इस प्रकार जब उनने अपनी प्रारम्भिक परीक्षा दे दी तब महर्षि ने उन्हें ब्रह्म का उपदेश देकर समाधान किया।

भगवान् बुद्ध जब आत्मशान्ति की खोज में गृहत्याग कर निकलते हैं, और आत्मा की प्राप्ति का मार्ग विभिन्न गुरुजनों से पूछते हैं तो उनका समाधान नहीं होता। अनेक प्रकार के मार्ग, अनेक विधान अनेक सिद्धान्त उन्हें विचलित कर देते हैं। ऐसी दशा में उनकी अन्तरात्मा एक ही उपाय सुझाती है कि तप करना चाहिये। तप के द्वारा ही अपने भीतर प्रकाश उत्पन्न होगा जिससे वस्तुस्थिति का स्पष्ट निरूपण हो सके।

अश्वघोष कृत बुद्ध चरितम् में यह वर्णन इस प्रकार आता है–

इहास्ति नास्तीति य एष संशयः
परस्य वाक्यैर्न ममात्र निश्चयः।
अवेत्थ तत्त्वं तपसा शमेन च–
स्वयं ग्रहीष्यामि यदत्र निश्चयम्।–बुद्ध चरितम् ९।७३

क्या है, क्या नहीं है, इस सम्बन्ध में जो संशय है उसका समाधान मुझे दूसरों के वचनों से न होगा। तप और शम से मैं स्वयं ही तत्व को जानूँगा और उसे ही ग्रहण करूँगा। हुआ भी यही। तपश्चर्या के उपरान्त ही वे निर्वाण प्राप्त कर सके। पूर्णता की परमात्मा की, प्राप्ति के लिए तप आवश्यक है।

□

आत्म-साधना के कठिन पथ पर

मृत मनुष्य के विषय में सारा संशय-शील है। कुछ लोग मृत्यु को ही जीवन की इति मानते हैं, कोई कहते हैं कि शरीर, इन्द्रियाँ, मन और बुद्धि के अतिरिक्त कोई आत्मा है जो मृत्यु के पश्चात् लोक लोकान्तरों में भ्रमण करती है। प्रत्यक्ष या अनुमान से इसका कोई उचित निर्णय नहीं ले पाता। इस गूढ़ प्रश्न को लेकर एक दिन महर्षि उद्दालक के पुत्र नचिकेता ने यमाचार्य के पास जाकर अत्यन्त विनीत भाव से पूछा—'देव! आप मृत्यु के देवता हैं अतएव मैं यह आत्म-तत्त्व आप से जानना चाहता हूँ।'

ऋषि बालक की जिज्ञासा पर एक-क्षण यमाचार्य को बड़ी प्रसन्नता हुई। पर दूसरे ही क्षण वे प्रश्न की गहराई में डूब गये। यमाचार्य ने पंचाग्नि-विद्या का ज्ञान बड़ी कठोर तपश्चर्या के बाद प्राप्त किया था, वे साधना-पथ की कठिनाइयों से पूरी तरह अवगत थे। बालक की दृढ़ता पर वे एकाएक विश्वास न कर सके अतः उन्होंने नचिकेता को सम्बोधित करते हुये कहा—'वत्स! तुम इस आत्म-ज्ञान को प्राप्त कर क्या करोगे, मैं तुम्हें सुख-सामग्रियों से भरपूर राज्य कोष, घोड़े, हाथी, रूपवती स्त्रियाँ और सौ वर्ष जीने वाले बहुत से पुत्र दे सकता हूँ, तुम चाहो तो इन्हें प्राप्त कर बहुत दिनों तक इस धरती पर सुखोपभोग करो। यह आत्म-ज्ञान बड़ा कठिन है तुम, ऐसी तपश्चर्या क्यों करना चाहते हो? दीर्घ-जीवन व्यापी सामर्थ्य प्राप्त कर इस संसार के सुखोपभोग क्यों नहीं माँग लेते।'

यमाचार्य की इन प्रलोभनपूर्ण बातों का नचिकेता पर कोई प्रभाव नहीं हुआ। उसने कहा—भगवन्! यह वस्तुएँ जो आप मुझे देना चाहते हैं, पता नहीं कब तक मेरा साथ देंगी, फिर भोग तो शक्तियों को नष्ट करने वाले ही होते हैं और शक्तियों के नाश से

मनुष्य निश्चय ही दु:खी होता है और मृत्यु की ओर अग्रसर होता है। मैं इस मृत्यु-रूपी भय से छुटकारा पाना चाहता हूँ। शरीर के सौन्दर्य और विषय भोग को अनित्य और क्षणभंगुर समझकर ऐसा कौन बुद्धिमान होगा जो आत्म-ज्ञान की अपेक्षा दीर्घ-जीवन और सांसारिक वैभव विलास को बड़ा मानेगा?

नचिकेता की प्रबल आत्म-जिज्ञासा के भाव को देखकर यमाचार्य सन्तुष्ट हुये और उन्होंने नचिकेता को आत्म-तत्त्व का उपदेश दिया।

जिस बात को यमाचार्य और नचिकेता के इस कथानक में बताया गया है, आत्म-साक्षात्कार के साधक के जीवन में भी वैसी ही घटनायें घटित होती हैं। मनुष्य की साधारण जिज्ञासा और आत्म-साक्षात्कार के बीच में जीवन शोधन की जो आवश्यक शर्त लगी हुई है वह अति दुस्तर है, इसीलिये शास्त्रकार ने कहा है—

क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया दुर्गं पथस्तत्कवयो वदन्ति।

'यह आत्म-ज्ञान का मार्ग छुरे की धार पर चलने के समान कठिन है, ऐसा कवि-मनीषियों का निश्चित मत है।'

बात भी प्राय: ऐसी ही है, क्योंकि मनुष्य को स्वाभाविक जीवन-क्रम में चलते रहने की प्रवृत्ति होती है। जल को किसी स्थान पर लुढ़का दिया जाय तो वह अपना रास्ता आप बना लेता है। नीचे की ओर बहने में उसे कोई कठिनाई नहीं होती। संक्षेप में हमारा जैसा जीवन-क्रम चल रहा है उसे वैसे-वैसे ही चलता रहने दें तो इसमें न कोई असुविधा होगी न कठिनाई। कठिनता तो अपने आपको ऊपर उठाने में ही होती है। पानी को अपनी सतह से ऊँचे उठाना हो तो उसे विशेष यत्नपूर्वक बड़ी कठिनाइयों से ऊपर चढ़ा पाते हैं। आत्मा को लघुता से विभुता की ओर अग्रसर करने में भी ठीक ऐसी ही कठिनाई आती है।

सबसे पहली आत्म-साधना जीवन को शुद्ध बनाना है। पाप और विकार ही आत्मा के बन्धन माने गये हैं अत: उनसे मुक्ति

पाने का प्रयत्न किया जाता है। पीछे जो पाप हो गये हैं उनके प्रक्षालन के लिए प्रायश्चित और तपश्चर्या करनी पड़ती है। इसके बिना आत्म-ज्ञान के लिये जिस एकाग्रता और दृढ़ता की आवश्यकता होती है वह नहीं हो पाती। पापों में रत और चित्त वृत्तियों का शोधन न करने वालों के मन सदैव अशांत रहते हैं। ऐसी अवस्था में शब्द पाण्डित्य या केवल सैद्धान्तिक ज्ञान काम नहीं देता। आत्म साक्षात्कार के लिये इन्द्रिय लालसाओं से मुक्त होना, शुद्ध, संयत और समाहित होना अत्यन्त आवश्यक है। पर इन्द्रिय विजय योंही नहीं हो जाती। जप, तप, व्रत, उपवास, तितीक्षा आदि के द्वारा आत्मा का शुद्धिकरण होता है, प्राणायाम, ध्यान, धारणा आदि के द्वारा उसे शक्तिशाली बनाया जाता है। यह कार्य ऐसे नहीं होते जिन्हें मनुष्य का मन आसानी से स्वीकृति देता रहे और उनका किंचित विरोध न करे।

बुद्धि पाप, इच्छाओं और वासनाओं पर लगाम लगाती है, उन्हें बार-बार नियन्त्रण में लाती है किन्तु इन्द्रियाँ और उनके विषय भी बड़े शक्तिशाली और प्रमथनकारी होते हैं। चोट खाये हुए सर्प तथा हारे हुये जुआरी की तरह ये बार-बार दाँव लगाते हैं और परिस्थितियाँ पाकर मनुष्य की सारी बुद्धि और विवेक में घमासान हलचल मचा देते हैं। काम और क्रोध, लोभ और मोह, भय और आशंका के तूफान एक क्षण में मनुष्य की बुद्धि पर पर्दा डाल देते हैं, उसे साधना से विचलित करने का हर सम्भव प्रयत्न करते हैं। कुचली हुई वासनाओं को जब भी अवकाश मिलता है वे ऐसे-ऐसे प्रलोभनकारी रूप रचकर मनुष्य को लुभाती हैं कि आत्म-ज्ञान का सारा महत्त्व उसकी आँखों से ओझल हो जाता है, बात की बात में साधक पथभ्रष्ट होकर रह जाता है।

ऐसे कठिन समय में जिनकी बुद्धि में विवेक होता है, जिनका मन एकाग्र और समाहित होता उसी की इन्द्रियाँ सावधान रहती हैं और वही आत्म-साधना के पथ पर धैर्य-पूर्वक अन्त तक टिके रह पाते हैं।

आत्म-ज्ञान की इच्छा वालों को स्पष्ट समझ लेना चाहिए कि जो अनावश्यक जान पड़ती हों कम से कम उन कामनाओं का तो परित्याग करना ही पड़ता है। अपनी बुद्धि को यथा सम्भव एकाग्र और निर्मल बनाने की वैसी ही आवश्यकता होती है जिस प्रकार भरे हुए जल में अपना प्रतिबिम्ब देखने के लिये लहरों का रोकना आवश्यक होता है। कामनायें एक प्रकार की लहरें ही होती हैं जिनके रहते हुए आत्मा का प्रतिबिम्ब साफ नहीं झलकता। इस बात का पक्का और पूर्ण विश्वास हो जाने पर किसी मार्गदर्शक की आवश्यकता नहीं रहती। इसके बाद आत्मा स्वयम् अपना गुरु, नेता या मार्गदर्शक हो जाता है और सभी सदा चरण स्वतः उसमें प्रकट होने लगते हैं। वह स्वयं ही सत्य और शुद्ध चरित्रमय बनने लगता है।

भय और लोभ आत्म-विकास के मार्ग में निरन्तर बाधाएँ पहुँचाते रहते हैं। बहुमुखी इन्द्रियाँ भी चैन से नहीं बैठने देतीं। अन्तरात्मा की देखने की दूरदृष्टि थोड़ी देर के लिए जागृत होती है अन्यथा अधिकांश समय वह इन्द्रियाँ तरह-तरह के बाहरी प्रलोभनों की ओर ही आकर्षित होती रहती है। अच्छे-अच्छे स्वादयुक्त भोज्य पदार्थ, अधिक धन, विपुल ऐश्वर्य कुच और कंचन की अतृप्त तृष्णा बार-बार अन्तर्मुखी इन्द्रियों को बहकाती रहती है। अज्ञानी लोग बाह्य विषयों के प्रलोभनों में फँस जाते हैं, इसलिए बताया गया है कि यह मार्ग अति कठिन है और उसे पार कर जाना कोई आसान बात नहीं है।

पर अमृतत्त्व की तीव्र आकाँक्षा रखने वाले साहसी पुरुष इन्द्रियों की क्षणिक लोलुपता और मन के विद्रोह के आगे नहीं झुकते। वे नचिकेता की तरह ही निष्ठाभाव से आध्यात्मिक विकास की साधना में संलग्न रहते हैं और आत्म-ज्ञान का लाभ प्राप्त करते हैं। यह मार्ग कायरों के लिए कठिन है पर पुरुषार्थियों के लिए कठिन नहीं होता। वे इन कठिनाइयों में भी अपने जीवन का आनन्द ढूँढ़ लेते हैं और अन्त तक तत्परतापूर्वक अभ्यास करते रहते हैं। यह आत्मा अन्त में उन्हीं वीर पुरुषों को प्राप्त होता है। वही स्वर्ग और मुक्ति के अधिकारी होते हैं।

ईश्वर प्राप्ति की साधना

पूजा अर्चा का तात्पर्य ईश्वर को प्राप्त करना नहीं वरन् अपनी भक्ति भावना, प्रेम-प्रकृति को विकसित करना है। एक महत्त्वपूर्ण मनोवैज्ञानिक व्यायाम की तरह ही पूजा-अर्चा की प्रक्रिया को माना जा सकता है, जिसके आधार पर पूजा-काल में किया हुआ अभ्यास हमारे स्वभाव का एक अङ्ग बन जाय। विचारों और कार्यों में प्रेम की दिव्य पुण्य प्रकृति झिलमिलाने लगे यही पूजा की सार्थकता है। हम जो कुछ भी सोचें उसमें प्राणिमात्र के हित साधन की आकांक्षा ओत-प्रोत रहे और जो कुछ करें उसका प्रत्येक अंश विश्व-मानव की सुख शान्ति अभिवृद्धि करने वाला सिद्ध हो, यही तो प्रेममय जीवन की गतिविधि हो सकती है। भक्ति-मार्ग का यही लक्ष्य है। ईश्वर-भक्त के लिए अपने जीवन को इसी दिशा में अग्रसर करने के अतिरिक्त और कोई मार्ग नहीं। भक्त उसे ही कहा जा सकता है जो प्राणिमात्र में ईश्वर को समाया हुआ देखता है और उसे पाप-पङ्क की गन्दगी से स्वच्छ करके सब प्रकार स्वच्छ एवं उत्कृष्ट बनाने के लिए प्रयत्न करता रहता है। हर किसी को उसकी इच्छानुसार सन्तुष्ट कर सकना न तो उचित है और न आवश्यक। क्योंकि बहुत से लोग ऐसे हैं जो दुष्टतापूर्ण आकाँक्षायें रखते हैं, दूसरों का शोषण करना चाहते हैं। यदि उन दुष्प्रवृत्तियों को भी पूर्ण करने के लिए कोई भोला भावुक व्यक्ति प्रयत्न करने लगे तब तो उसमें अनीति ही पनपेगी, असुरता का पोषण होगा। प्रेमी को विवेकशील भी रहना पड़ता है ताकि दूसरों के हित साधन का सच्चा उपाय समझ सके और जरूरत हो तो कड़ुई कुनैन खिलाने या फोड़े का आपरेशन करने वाले डाक्टरों की तरह बाहर से निष्ठुर एवं कठोर दीखने वाला दूर-दर्शितापूर्ण व्यवहार भी कर सके। कठोरता के पीछे भी अनन्त करुणा छिपी हो सकती है।

समयानुसार व्यवहार की कोमलता या कठोरता का अन्तर रहना स्वाभाविक है और आवश्यक भी। पर उसके मूल में अपना स्वार्थ साधन नहीं, दूसरों की हित साधना—दूरवर्ती स्थिर फल देने वाली श्रेय-योजना ही सन्निहित होनी चाहिए। जीवन की यही सर्वोत्कृष्ट नीति हो सकती है। इसी में मानव जीवन की सफलता और सार्थकता मानी जा सकती है। प्रेमी स्वभाव बनाने की साधना को ही ईश्वरभक्ति या पूजा अर्चा कहते हैं। इस उद्देश्य में हम जितने ही सफल होते जाते हैं ईश्वर उतना ही हमारे निकट खिंचता चला आता है। वस्तुतः ईश्वर हमारे नितान्त निकट है, रोम-रोम में समाया हुआ है। प्रत्येक श्वास प्रश्वास में उसी की वन्शी बजती है। अन्तरात्मा में बैठा हुआ वह क्षण-क्षण में हमारे साथ विचार विनिमय करता है और बिना पूछे ही श्रेय साधन के आवश्यक परामर्श देता रहता है। हमीं है जो उसकी उपेक्षा करते हैं, भुलाये रहते हैं और अवज्ञा की अशिष्टता बरतते हैं। ईश्वरभक्ति इतने से ही पूर्ण हो सकती है कि उसे हम अपने कण-कण में समाया हुआ, अपने चारों ओर फैला हुआ, हर घड़ी साथ रहता, खेलता और मैत्री निवाहता हुआ देखें। इतनी अनुभूति अन्तरात्मा में जागृत हो सके तो समझना चाहिए कि ईश्वर मिल गया।

ईश्वर को अपनी मनमर्जी के अनुसार चलाने की, उसे नौकर जैसे हुक्म देने की धृष्टता छोड़कर यदि उसकी मर्जी से अपनी मर्जी मिलाने की शिष्टता सीखलें तो ईश्वर की उपलब्धि का जो लाभ मिल सकता है वह निश्चित रूप से मिल जायगा। ईश्वर प्राप्ति कोई ऐसा कार्य नहीं है जिसके लिये जगह-जगह भटकना पड़े। परमात्मा कहीं खोया हुआ नहीं है जिसे ढूँढ़ना पड़े। वह नाराज नहीं है जिसे प्रसन्न करना पड़े। करना केवल इतना ही है कि उसे जानते हुए भी अनजान जैसी गति-विधियों को अपना रक्खा है उन्हें बदल लिया जाय। पूजा अर्चा के समय तक ही ईश्वर का जप ध्यान करने को सीमित न रखकर, उस अनुभूति को यदि पूरे समय पूरे जीवन-क्रम

में, पूरी स्नेह-सम्वेदना के साथ देखा, समझा और अनुभव किया जा सके तो ईश्वर प्राप्ति का यह लक्ष्य सहज ही प्राप्त हो सकता है।

अङ्गार पर भस्म की परत चढ़ जाने से उसका स्वरूप अग्नि जैसा न रहकर कुछ और ही प्रकार का बन जाता है। जलता हुआ अङ्गार गरम होता है। रङ्ग लाल रहता है, प्रकाश भी उसमें रहता है, किन्तु जब वह कुछ समय ऐसे ही निष्क्रय पड़ा रहता, और नया ईंधन नहीं मिलता तो धीरे-धीरे बुझने लगता है। ऊपर के परत पर भस्म की एक तह छा जाती है। तब देखने में वह काला, प्रकाश रहित और छूने से उष्णता से रहित बन जाता है। यही बात आत्मा की भी है। ईश्वर का अंश होने से वह अग्नि जैसे दिव्य गुणों से परिपूर्ण है, पर जब दिव्य विचारों और दिव्य कर्मों का ईंधन भी नहीं मिलता तो वह मुरझाने और बुझने लगता है। मल, आवरण और विक्षोभ की राख जैसी पर्त उस पर छा जाती है। तब वह निष्कृष्ट कोटि का जीव मात्र रह जाता है। अगणित मनुष्य इसी स्थिति में पड़े हुए हैं। उनके गुण, कर्म, स्वभाव ऐसे घटिया होते हैं कि पशु से, कीट पतङ्गों से भी निम्न श्रेणी में ही उन्हें गिना जा सकता है। ऐसी दशा में यह सन्देह होने लगता है कि इन घृणित व्यक्तियों को ईश्वर का पुत्र व आत्मा कैसे कहा जाय? जलते हुए अङ्गार और राख के ढके हुए अङ्गार में जो अन्तर होता है वही प्रबुद्ध आत्माओं और पतित नर-पामरों के बीच भी पाया जाता है।

राख की परत हटा देने पर अँगार का भीतरी भाग पुनः गरम, प्रकाशवान और लाल ही दृष्टिगोचर होता है। इसी प्रकार कुविचारों और कुसंस्कारों का आवरण हटा देने पर साधारण स्तर का प्रतीत होने वाला मनुष्य भी महात्मा, महापुरुष एवं देवता की श्रेणी में पहुँच जाता है। अन्तस्तल में महानता मौजूद रहने से आवरण को हटा देने मात्र की प्रक्रिया उसे पूर्वस्थिति में ले आती है। उपासना और आराधना आत्मा पर चढ़े हुए मल-आवरण और विक्षोभों के हटाने के निमित्त ही की जाती है! बर्तन माँजने से वे पुनः चमकने

लगते है, धो डालने से कपड़े पुनः स्वच्छ हो जाते हैं, स्नान करने से शरीर में पुनः ताजगी आ जाती है। उपासना के द्वारा आत्मा पर उच्च संस्कार डालने की विधिव्यवस्था यदि ठीक प्रकार बनी रहे तो उसकी, महानता एवं उत्कृष्टता भी निरन्तर बढ़ती चली जाती है।यह प्रगति धीरे-धीरे उन्नति के उच्च शिखर तक ले पहुँचती है और आत्मा की स्थिति भी परमात्मा के समान बन जातीहै। उसमें वे सब विशेषताएँ और शक्तियाँ अवतरित होती हैं जो उसके उद्गम केन्द्र परमात्मा में मौजूद हैं।

इसमें कठिनाई अवश्य है। पूजा में थोड़े कर्मकाण्ड की विधि-व्यवस्था पूरी कर लेने से काम चल सकता है, पर ईश्वर प्राप्ति तो तभी निभेगी जब पूरा जीवनक्रम ही दिव्यता के साँचे में ढाला जाय। आत्मिक पवित्रता ही ईश्वर प्राप्ति की निशानी है। जो आत्मा पवित्र है उसे अपने भीतर परमात्मा की झाँकी प्रतिक्षण होती रहेगी।

तपस्वी, साधकों में अनेकों आध्यात्मिक विशेषताएँ पायी जाती हैं। इनका व्यक्तित्व अनेकों ऋद्धि-सिद्धियों से भरा होता है। अपने निज के लिए उज्ज्वल भविष्य की रचना करने के साथ वे दूसरों का भी बहुत भारी हित साधन कर सकने की शक्ति से सम्पन्न होते हैं। माया, स्वार्थ, अज्ञान, वासना, तृष्णा के—काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मत्सर के-बन्धनों में बँधा हुआ जीव तुच्छ है। उसकी शक्ति सामर्थ्य, स्थिति सब कुछ तुच्छ है। छोटी छोटी वस्तुओं के लिए उसे दीनता प्रकट करते और अभाव कठिनाइयों का रोना रोते देखा जा सकता है। पर जब वह इन तुच्छताओं का परित्याग करके आत्म-स्वरूप को पहचान लेता है और जो सोचना चाहिए वही सोचता है, जो करना चाहिए वही करता है तो वह प्रबुद्ध आत्मा ईश्वर के बिलकुल समीप जा पहुँचता है और वे सब विशेषताएँ उसमें प्रकट होती हैं जो ईश्वर में मौजूद हैं। सिद्ध पुरुषों की संकल्प-शक्ति के बल पर सारा संसार दहल उठता है, लोक-लोकान्तरों तक उनकी आकांक्षा हलचल मचा देती है। अपने तप-आशीर्वाद का

एक कण दूसरों को देकर वह उन्हें निहाल बना सकता है। अष्टसिद्धियों और नव-निद्धियों का वर्णन झूँठा नहीं है। मानव प्राणी अनन्त शक्तियों से ओत-प्रोत है। ब्रह्मांड का सारा नक्शा पिण्ड में मौजूद है। इस शरीर के अन्दर समस्त दिव्य शक्तियाँ बीज रूप में मौजूद हैं। साधना के द्वारा उन्हें विकसित करने के पश्चात् मनुष्य महान् ऐश्वर्यवान् बन सकता है।

सारा जीवन ही साधना बने!

रूढ़ अर्थों में साधना एक धार्मिक या आध्यात्मिक प्रक्रिया है, जिसकी विभिन्न धर्म-सम्प्रदाओं में अलग-अलग मान्यतायें हैं। हिन्दू धर्म में यम, नियम, आसन और प्राणायाम को बहिरंग, धारणा, ध्यान और समाधि को अन्तरंग साधना-सोपान के रूप में स्वीकार किया गया है। जैनागमों में अनशन, अनोदरता (आहार सम्बन्धी नियम) भिक्षाचर्या, वृत्ति-संकोच, रस-परित्याग, काय-क्लेश और निर्विकारता को बहिरंग साधना की तथा प्रायश्चित, सेवा-परिचर्या, स्वाध्याय, ध्यान एवं कायोत्सर्ग को अन्तरंग साधना अर्थात् तप की संज्ञा दी गई है। बौद्ध-धर्म में स्वपीड़न और पर-पीड़न विरहित तप को श्रेष्ठ माना गया है।

परन्तु साधना या तप कोई जड़ प्रक्रिया नहीं है, जिसको नियमोपनियमों के शिकन्जे में कस दिया जाय। वह एक गत्यात्मक प्रक्रिया, जिसका अनुगमन बदलती हुई जीवन-परिस्थितियों के साथ व्यावहारिक धरातल पर होना आवश्यक है।

साधना केवल धार्मिक कर्मकाण्ड-सापेक्ष क्रिया मात्र नहीं है। उसको वह रूप देकर धर्माचार्यों ने मानव-मात्र को संकुचित दायरे में बन्द कर दिया है। गृह-त्यागी, विरक्त और संन्यासी महाप्राण मनीषियों के आचार आदर्श का मान-बिन्दु ही स्थापित कर सकते हैं, परन्तु लोक धर्म का रूप नहीं ले सकते। आज धर्म के नाम पर

नई पीढ़ी नाक-भौं सिकोड़ती है, उसका दोष किस पर है? जो धर्म या साधना-पथ लौकिक जीवन के बदलते आश्रमों के साथ अपने को गत्यात्मक नहीं बनाये रख सकता, उसका स्थान शास्त्रों में सुरक्षित रहने योग्य है। वह बुद्धि-विलक्षण लोगों के तर्क-वितर्क का विषय बनने योग्य है पर जन-पथ पर उसका रथ अग्रसर नहीं हो सकता।

जन-समाज में अधिकांश संख्या तो गृहस्थों की है और जो नामधारी साधु-संन्यासी हैं, उनमें से भी अधिकाँश प्रच्छन्न गृहस्थ ही हैं। फिर यम-नियम, आसन, प्राणायाम, ध्यान—धारणा समाधि की कठोर प्रक्रिया में से गुजरने की अपेक्षा किससे की जा रही है?

मुद्रक : युग निर्माण योजना प्रेस, मथुरा (उ. प्र.)